Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 13, अंक 1 जनवरी, 1999

उन्मीलन

हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण, रा. प्र. पांडेय,
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 13 अंक 1 जनवरी, 1999

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादन-सहयोगी

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, निदेशक-निराला सृजन-पीठ, सी-165/1, प्रोफेसर कालोनी, भोपाल- 462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
   दूरभाष 515693
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
   दूरभाष 213737 / 211725

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा रूपा प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

1. धर्म और नीति — मुकुंद लाठ — 1

2. भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परंपराओं के मूल स्वर — दयाकृष्ण — 17

3. उन्मीलन-गोष्ठी :
अध्यास : विषय-प्रस्ताव — यशदेव शल्य — 29

4. भेंट-वार्ता
माइकेल डमेट के साथ फ़ाब्रिस पातो एंस्तीत्य दिस्त्वार की
विषय : भाषा-चिन्तन, तर्क एवं वैश्लेषकि दर्शन के इतिहास पर यथार्थवाद-विरोधी दृष्टि — 43

5. पुस्तक समीक्षा
आस्था-पुरुष, ले. सिद्धेश्वरप्रसाद — राजेन्द्रस्वरूप भटनागर — 76

6. प्रोफेसर नंदकिशोर देवराज के प्रति श्रद्धांजलि-निवेदन — 83

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन में संस्कृत भाषा में लेख-प्रकाशन की योजना

अगले अंक से हमने उन्मीलन में संस्कृत में लिखने वाले विद्वानों को भी सम्मिलित करने का निर्णय किया है। यद्यपि यह विचार हमारे मन में देर से चल रहा था, किन्तु इसे कार्यान्वित करने का निर्णय लेने में दयाजी प्रेरक बने। हम संस्कृत में लिखने वाले विद्वानों-विचारकों को उन्मीलन में लिखने के लिए सादर आमंत्रित करते हैं। उनके लेखों के हम हिन्दी में सारांश भी प्रकाशित करेंगे।

संपादक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन – वर्ष 13-अंक 1
जनवरी, 1999

धर्म और नीति

मानव-कर्म के दो आयाम : विरोध या विरोधाभास

मुकुन्द लाठ

आरम्भ करने से पहले कुछ बातें सामने ला देना चाहता हूँ। लेख का नाम मैंने एक अभिप्राय विशेष से रखा था। पर लिखने लगा और विषय पर चर्चा करने लगा तो एक और अभिप्राय सामने आया, जो मैं समझता हूँ गूढ़तर और गंभीरतर है। अभिप्राय की यह दिशा कहीं विचार के गर्भ में थी पर प्रकट विशेषकर शल्यजी के साथ बातचीत में हुई। मैं समझता हूँ कि लेख को 'औचित्य-विचार-चर्चा' नाम दूँ तो अभिप्राय कुछ ठीक पकड़ में आयेगा। पर नाम अब मैं बदलना नहीं चाहता, और नाम जिस दिशा की ओर इंगित कर रहा है उधर भी विचार में बढ़ना ही चाहता हूँ। पर लेख के इस अंश में आयी जितनी बात आपके सामने है उस अंश को औचित्य-विचार-चर्चा कहना अनुपयुक्त न होगा। पाठक चाहें तो इसे लेख के उपशीर्षक के रूप में ले सकते हैं।

'औचित्य' शब्द तो प्राचीन है पर उसका अर्थ बहुत फैला हुआ, बहुत बिखरा भी है। विवेचना का केन्द्र नहीं रहा है। आज कोई विचारक हिन्दी में विचार करते हुए औचित्य के प्रत्यय का कोई ऐसा अर्थ ढूँढे जो उसके अपने मनन की धरती बन सके तो शायद उसे निराश ही होना पड़ेगा। कहना मैं यह चाह रहा हूँ कि विचार करते हुए कोई प्रत्यय हमारे मन में कौंध जाये जो सार्थक जान पड़े तो उस प्रत्यय का कोई स्वीकृत निर्धारित अर्थ—विवेचना में कुछ कसाव के साथ उभरा हुआ तात्पर्य—विचार को ऐसा आधार दे सकता है कि कहीं खड़े होकर अपने पाँव चले। कहना न होगा कि हिन्दी में अभी विचार ही कम होता है इसलिए मेरी अपेक्षा ही शायद ठीक नहीं है—या कहिये कि 'उचित' नहीं है। आप कहेंगे कि मुझे चाहिए कि मैं बस अपना विचार आरम्भ करूँ। औचित्य का जो अर्थ उभरेगा, उभरेगा, कुछ सार्थक होगा, विचारोत्तेजक होगा, तो दूसरे आगे ऊहापोह करेंगे। मुझे पहले किसी तैयार धरती की अपेक्षा क्यों? बात ठीक है। पर मैं किसी अभाव की शिकायत लेकर बैठा भी नहीं हूँ। उलटे जताना यह चाहता हूँ कि हिन्दी में विचार-साहित्य में मुझे 'औचित्य' के अर्थ का एक संकेत मिला है। शल्य जी के लेखन में 'औचित्य' का ऐसा प्रयोग है जो मेरे विचार को धरती दे सकता है।

शल्यजी को पढ़कर—और उससे भी अधिक उनसे बातचीत में—यह आगे आया कि शल्यजी उचित-अनुचित के प्रत्यय को नैतिकता से जोड़ते हैं। उन्होंने मेरा ध्यान अपनी **समाज**[1] पुस्तक की ओर दिलाया। पुस्तक में नैतिकता पर एक अध्याय है, जहाँ शल्य जी

---

1 समाज : दार्शनिक परिशीलन, रावत प्रकाशन, जयपुर, 1992

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहते हैं : "सत्य-असत्य प्रिय-अप्रिय, सुन्दर-कुरूप ये पद चेतना के वस्तु से सम्बन्ध के निरूपक हैं। किन्तु इनमें प्रथम पद-युगल दूसरे दो से मौलिक रूप में भिन्न प्रकार का समझा जाता है। प्रथम के वाच्य जबकि चेतना के वस्तु-अनुबन्ध से निर्धारित होते हैं दूसरे दो के वाच्य वस्तु के चेतनानुबन्ध से निर्धारित होते हैं। इनके विपरीत कर्त्तव्याकर्त्तव्य, उचितानुचित, एष्यानेष्य, सदसद्, श्रेयस्कराश्रेयस्कर पद हैं जिनके वाच्यं चेतना के वस्तु से निरपेक्ष स्वयं अपने अर्थ के प्रति उसकी अनुकूलता-प्रतिकूलता से निर्धारित होते हैं।" यहाँ स्पष्ट है कि ज्ञान और भावना—या रस और सौन्दर्य कहिये—इन क्षेत्रों से भिन्न और शल्यजी के शब्दों में 'इनके विपरीत', नैतिकता का क्षेत्र है जहाँ सदसद्, श्रेयस्कर-अश्रेयस्कर पदों के समान, और लगता है उनके पर्याय के रूप में ही, उचित-अनुचित शब्द हैं जो इस क्षेत्र में सार्थक हैं, इसके स्वरूप से सम्बद्ध हैं। शल्यजी ने यह भी कहा है कि "इन पदों के वाच्य चेतना के वस्तु से निरपेक्ष स्वयं उसके अपने अर्थ से उसकी अनुकूलता-प्रतिकूलता से निर्धारित होते हैं।" इस कथन के मर्म में शल्यजी की अपनी तत्त्व-दृष्टि है जिसका उन्होंने विस्तार और गहराई से प्रतिपादन किया है। यह दृष्टि परम तत्त्व को एक अद्वय चित् का सृजन-व्यापार मानती है और सृजन को अर्थ का उन्मेष। इस व्यापार का बिम्ब—या शल्यजी के शब्दों में 'प्रतीक'—हम मनुष्य की आत्मचेतना में देख और पा सकते हैं। हम अपने अनुभव, अपनी संस्कृति में पाते हैं कि मनुष्य की चेतना सचमुच तब अपने 'आत्म' में प्रतिष्ठित होती है जब इन्द्रिय और अहं के स्थूल बन्धन से उठकर ज्ञान, कर्म, भाव और अध्यात्म ऐसे क्षेत्रों का अन्वेषण करती है और इनमें सृजन को विस्तार देती है। यही शल्य जी की दृष्टि में अर्थों का अवगाहन और उन्मेष है। पुराने शब्दों में कहें तो, पुरुषार्थ-साधना है। सृजन के ये अर्थ कहीं बाहर के अर्थ नहीं हैं, मनुष्य के स्वरूप में निहित अर्थ हैं। पर ये अर्थ काल्पनिक या असत् नहीं हैं। ये मनुष्य की उस 'आत्मा' के 'तात्त्विक' उन्मेष हैं जो चित् की प्रतीकभूत है। यों मनुष्य का सृजन चित्-तत्त्व के ही निरन्तर आत्म-सृजन का भी निदर्श है। मनुष्य में चित्-बीज जहाँ सृजन की प्रेरणा है वहीं वह उसका निकष भी है। हमारा पुरुषार्थ-व्यापार प्रमाण चाहता है क्योंकि प्राकृत और मोह-ग्रस्त भी हो सकता है—आत्म के नहीं, अनात्म के पंथ पर हो सकता है। वह अनात्म-स्तर का व्यापार हो सकता है। यह मनुष्य की आत्म-चेतना उसे जताती है। अन्य प्राणियों की चेतना में यह बोध नहीं होता। आत्म-चेतन के लिए प्रमाण-अन्वेषण पुरुषार्थ-अन्वेषण का प्राण ९, उसके गर्भ में, उसके मर्म में स्थित है। पर प्रमाण अर्थ-अन्वेषण से 'बाहर' कुछ नहीं है—बाहर हो तो वह बाह्य, अनात्म ही होगा, निरर्थक और मिथ्या। वह भी आत्म के स्वतंत्र उन्मेष में ही समोया है। शल्यजी के तत्त्व-दर्शन पर विचार करना यहाँ मेरा ध्येय नहीं है। पर उनकी पुरुषार्थ की धारणा में दृष्टि की पैठ है। मेरे प्रयास में यहाँ वैसी ही दृष्टि ऊह्य है। मेरी चर्चा कर्म को—या उसके आधार-तत्त्व 'नैतिकता' को आत्म-चेतना का स्वतंत्र व्यापार मान कर ही चली है। इस चेतना में औचित्य का उन्मेष और अन्वेषण निहित ही रहते हैं। शल्यजी इस औचित्य का निकष मनुष्य की आत्मा से अनुकूलता में देखते हैं। यहाँ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मैं इस पर टिप्पणी नहीं करूँगा। पर एक बात लक्ष्य कीजिये। आत्मा की अपने से अनुकूलता का निकष वे कर्म में ही नहीं पुरुषार्थ मात्र में मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह सहज उत्पन्न होता है। फिर 'औचित्य' की बात केवल कर्म में ही क्यों की जाए? ज्ञान, भाव, अध्यात्म, ये भी तो उसके क्षेत्र बनते हैं?

ऐसी ही सी बात का उत्तर देते हुए शल्यजी ने बातचीत में जो कुछ कहा था उसका तात्पर्य यह था कि एक तरह से नैतिकता कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-विचार में औचित्य का मूल है। मैं जब अपने से प्रश्न करता हूँ कि गाऊँ या न गाऊँ तो यह देखता हूँ कि कोई और ऐसा कर्त्तव्य तो नहीं है जो अभी तुरंत करणीय है? यह कर्त्तव्य कर्म का ही कर्त्तव्य होगा और यों नैतिकता में ही 'उचित' की बात उठती है। मैं यहाँ किसी 'मूल' उचित चर्चा में नहीं जाना चाहता। इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'औचित्य' का यह अर्थ सीमित है, प्रयोग विशेष के लिए बाँध दिया गया है। औचित्य की बात हम पुरुषार्थ के अन्य क्षेत्रों में भी करते हैं—नहीं भी करते हों तो सार्थक-भाव से कर सकते हैं। किसी भी क्षेत्र में औचित्य की बात वैसी ही है जैसी प्रमाण की बात, खरेपन की बात। पर हाँ, प्रश्न उठ सकता है कि क्षेत्र-भेद के साथ क्या 'औचित्य' के स्वरूप में भी भेद होता है कि नहीं? होता है तो क्या? यह भी प्रश्न उठ सकता है कि विभिन्न पुरुषार्थों के औचित्य परस्पर सम्बद्ध हैं या नहीं? सम्बद्ध हैं तो क्या किसी मूल या आधारगत औचित्य की बात कर सकते हैं? नहीं तो सम्बन्ध को कैसे देखें? मेरा प्रयास पहले प्रश्न की ओर ही अधिक झुका है। दूसरा प्रश्न टेढ़ा है, मनुष्य के लिए एक पुरानी गुत्थी रहा है, उसमें मैं यहाँ नहीं उलझा हूँ। पर जैसी चर्चा मैंने उठाई है उसकी गाँठ से बिल्कुल अलग रहना भी शायद संभव नहीं।

इस भूमिका के साथ अपनी बात शुरू करता हूँ, जो मुझे एक लेख में पूरी होती नहीं दिख रही है।

'धर्म' और 'नीति' इन धारणाओं का सम्बन्ध कर्म से है। कर्म का विचार आते ही आज जिसे 'नैतिकता' कहते हैं उसकी बात अनायास मन में उठती है। मैं 'नैतिकता', यह अधुना-प्रचलित शब्द न लेकर पुराने प्रयोग का 'धर्म' शब्द लेना चाहता हूँ। क्यों? इसकी चर्चा आगे के विचार में उभरेगी।

'नीति' शब्द का पुराना प्रयोग आज के प्रयोग से बहुत भिन्न है। तभी मैंने ऊपर, शीर्षक में, धर्म और नीति के विरोध की बात की है। कर्म कुछ साधता है, जिसे साधता है—कर्म का साध्य—उसके औचित्य की कसौटी—या औचित्य का आधार-तत्त्व कहिये—उसीको धर्म कहते हैं। नीति का सम्बन्ध साधन से है। आप कह सकते हैं कि नीति का अपना औचित्य होता है उसके कौशल या लाघव का औचित्य, जो साधन होने के कारण साध्य-सापेक्ष तो होता है, पर उसके लिए यह प्रश्न अवान्तर प्रश्न होता है कि साध्य उचित है या नहीं। दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि उचित साध्य ही को कहना चाहिये जो अपने-आप में उचित है, मात्र साधन को नहीं। आज जिसे पश्चिम-प्रभावित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुवादमयी भाषा में 'नैतिकता' कहते हैं, इस धारणा में 'नीति' स्पष्ट ही पुराने प्रयोग से उलटी ही गति लेती है। 'नीति' का सम्बन्ध यहाँ साध्य और उसके औचित्य से है, साधन की 'उपयुक्तता' से नहीं। 'नैतिकता' का अर्थ आज 'धर्म' के निकट है, 'नीति' के निकट नहीं। वैसे पुराने प्रयोग में भी कहीं कहीं अर्थ-वैपरीत्य दिखाई दे जाता है, 'नीति' का धर्म से अर्थ-भेद सामने नहीं आता। 'नीति' का अपने आप में उचित के अर्थ में प्रयोग भी दिख जाता है। लगता है कि 'नैतिकता' शब्द के आधुनिक अर्थ की स्वीकृति के मूल में इस पुराने अर्थ-व्यत्यय का भी हाथ है। मेरे शीर्षक में व्यंजित है कि दोनों का विरोध एक गहरे अर्थ में विरोध है नहीं, प्रतीत ही होता है। इसी बात की चर्चा करना चाहता हूँ। पर यह बात विरोध को देखकर, प्राप्त कर ही, आगे बढ़ सकती है।

जो भी हो, विचार-विमर्श में 'धर्म' और 'नीति' यह भेद स्पष्ट उभरता ही है, उभारा भी गया है और आज भी यह विचार-विमर्श के लिए मौलिक और सार्थक भेद है। कर्म के स्वरूप में निबद्ध है। धर्म और नीति पर विचार के प्राचीन प्रसंगों में तो 'धर्म' और 'नीति' शब्दों के अर्थों में साध्य और साधन के आधार पर स्पष्ट विवेक किया गया है। एक और काम का पुराना शब्द है : 'इतिकर्त्तव्यता'— 'क्या करना चाहिए', 'किया क्या जाना चाहिये!' धर्म का प्रश्न साध्य की इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न रहा है, नीति का प्रश्न साधन की इतिकर्त्तव्यता का। 'इतिकर्त्तव्यता' शब्द का प्रयोग धर्म और नीति दोनों सन्दर्भों में किया गया है। पर दूसरे प्रयोग में 'कर्त्तव्यता' को औपचारिक अर्थ में ही लेना चाहिये। इतिकर्त्तव्यता का सम्बन्ध इतिसाध्यता से ही बनता है—कि कर्त्तव्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में जो भी कर्म विहित माना जाये उसे अपने आप में करणीय मानना ही युक्त है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है जिसे उठाते हुए मैं धर्म और नीति के विरोध की चर्चा में आगे बढ़ना चाहता हूँ। धर्म और नीति ये कर्म के लक्षण हैं। पर प्रश्न है, क्या 'कर्म' शब्द इनसे अधिक व्यापक नहीं? क्या 'कर्म' और 'कर्म का औचित्य' इन शब्दों का अर्थ 'धर्म' और 'नीति' इनकी परिधि में पूरा आ जाता है? 'कर्म' शब्द के प्रयोगों को लें तो ऐसा नहीं लगता। हम 'विचारकर्म', 'कविकर्म,' 'नृत्यकर्म' में 'कर्म' शब्द के ऐसे प्रयोग भी सार्थक भाव से करते हैं और इनमें धर्म और नीति का प्रश्न ही उठता नहीं दीखता। देखने की बात यह भी है कि इन कर्मों में भी औचित्य की बात इनके अर्थ के केन्द्र में है। विचार का अपना औचित्य होता है जो युक्त-अयुक्त, संगत-असंगत जैसी धारणाओं में व्यक्त होता है। विचार का ज्ञान से सम्बन्ध है। क्या सम्बन्ध है? यह विचार की बात हो सकती है, पर असम्बन्ध की बात करना अयुक्त ही होगा। विचार में साध्य-साधन भाव भी स्पष्ट ही होता है। ज्ञान की तरह ही सत्य या तत्त्व को हम विचार का साध्य कह सकते हैं जो प्रमाण-व्यापार को साधन बनाता है। विचार करते हुए हम इससे भी ऊपर उठ कर प्रश्न कर सकते हैं, क्या सत्य या तत्त्व ही सचमुच विचार का साध्य है? क्या विचार का कोई साध्य है भी? क्या विचार ज्ञान-व्यापार का एक अंग मात्र नहीं, वह भी एक गौण अंग? विज्ञान, जिसे आज ज्ञान का परम आदर्श माना जाता है, उसमें विचार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की ऐसी ही सी गति सामने आती है। पर इसके विपरीत भी विचार सहज ही प्रश्न उठा सकता है, ज्ञान वास्तव में हुआ या नहीं, यह संदेह जगा सकता है और बड़े समर्थ, संगत भाव से जगा सकता है। विज्ञान को ही लें। विज्ञान एक चरिष्णु ज्ञान-व्यापार है। उसके स्वरूप में ही यह निहित है कि ज्ञान हो नहीं जाता, होता रहता है—पूर्णमिदम् का पर्याप्ति-बोध आ जाये तो विज्ञान ही नहीं होगा। पर अगर विज्ञान चरिष्णु है तो विचार का ऊहापोह ही उसे चरिष्णु बनाये रखता है। संदेह विचार का अंग है, वह ज्ञान के किसी स्वतन्त्र साधन का अंग नहीं हो सकता, चाहे साधन को 'वैज्ञानिक' विशेषण से भूषित क्यों न किया जाये। विचार के बिना साधन अपने आप में जड़ सा ही होता है। जैसे इन्द्रिय। यों देखें तो विचार विज्ञान का अंग नहीं, बल्कि विज्ञान विचार का अंग ठहरता है। विचार के औचित्य की बात इस प्रश्न को केन्द्र में रखकर नहीं उठाई जा सकती कि विचार करना उचित है या नहीं? यह प्रश्न हम तब उठाते हैं जब किसी और क्षेत्र के औचित्य को, भाव के या धर्म (नैतिकता) के औचित्य को, प्रधान मान कर चलते हैं। पर विचार को हम अपने आप में अन्वेष्य और पुरुषार्थ मान कर चलें तो विचार के अपने औचित्य की बात वैसे ही कर सकते हैं जैसे कर्म के औचित्य की। विचार का अपना औचित्य क्या है यह विचार का गहरा प्रश्न है, विचार का साध्य भी और उसके लिए रहस्य भी। जो भी हो, इसको लेकर तर्क, वाद-विवाद हो सकता है पर इतना तो हम कह ही सकते हैं कि जिसके मूल में युक्त-अयुक्त, संगत-असंगत की बात हो और जिसकी गति सत्य को साध्य बनाये वह उचित विचार है, उसमें विचार का औचित्य है। मैंने सत्य को यहाँ साध्य कहा है, कोई तर्क या युक्ति को साध्य कह सकते हैं, पर यह ठीक नहीं लगता। तर्क की दृष्टि से यह ठीक नहीं है, ऐसा कहना सत्य को ऊह्य रख कर ही संभव है। 'ठीक नहीं है' के स्थान पर यदि हम कहें कि 'संगत नहीं है', 'युक्त नहीं है' या यह भी कि 'उचित नहीं है' तो भी एक ही बात होगी। संगति, युक्ति, औचित्य ये यहाँ सत्य के ही पर्याय ठहरते हैं, या सत्य को स्वीकृत रखते हुए ही संभव बन पड़ते हैं। कहना न होगा, सत्य क्या है यह जटिल प्रश्न है। पर यहाँ मनन की एक बात और है कि सत्य की बात ज्ञान और विचार में ही नहीं, कर्म में भी उठती है। कर्म का साध्य भी सत्य के नाम से अभिहित किया जाता है। कर्म के औचित्य के निकष को भी सत्य कहा जाता है। हम कह सकते हैं कि यहाँ 'सत्य' शब्द के दो नितान्त भिन्न अर्थ हैं जिनमें कोई पर्याय-भाव नहीं है, केवल ध्वनि एक है, अक्षर एक हैं। पर मैं समझता हूँ कि यों कहते हुए अगर चेतना का अभिनिवेश किसी गहराई में उतर रहा हो तो बात बहुत आसानी से नहीं कही जा सकेगी। यह बात चर्चा चाहती है जिसको यहाँ विस्तार में उठाना प्रसंग-बाहर होगा। जो भी हो, साध्य और औचित्य की बात हम कर्म की तरह विचार में भी कर ही सकते हैं और यों 'विचार-कर्म' यह भाषा का सार्थक प्रयोग ठहरता है। यह प्रश्न अलग से उठ सकता है कि विचार में भी क्या धर्म और नीति जैसा कोई मौलिक भेद किया जा सकता है? पर यह प्रश्न भी हम यहाँ नहीं उठायेंगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'कवि-कर्म', 'नृत्य कर्म' 'कर्म' के ऐसे प्रयोगों में कर्म का भाव—कुछ किया जा रहा है, यह भाव—विचार के क्षेत्र से अधिक स्फुट है। विचार का ज्ञान से अभिन्न सा सम्बन्ध है और विचार की स्थिति—या गति कहिये—कितनी ही सक्रिय क्यों न हो, ज्ञान की अवस्था क्रिया-विहीन होती है, उसे सचमुच 'स्थिति' कह सकते हैं। इसीलिए शंकर ने कर्म को ज्ञान से स्वरूपतः भिन्न कहा है और इसीलिए शायद हम विचार को भी कर्म कहते हुए संकोच करते हैं—उसका ज्ञान से अभिन्न सा सम्बन्ध ध्यान में बसा रहता है।

कहने को कवि-कर्म को भी कर्म कहने में संकोच हो सकता है। एक तो संकोच इसलिए होता है—और ढेर सारे लोगों को अक्सर ही होता है—क्योंकि कवि-कर्म के कर्म को हम 'काम' की कोटि में नहीं रखते : कवि-कर्म कोई काम नहीं है, या काम जैसा काम नहीं है। पर यह आपत्ति साफ़ ही लचर है। 'काम' शब्द का आम प्रयोग बड़ा सीमित ही नहीं बड़ा उपयोगितावादी भी है। 'कर्म' को उससे बाँध देना विचार को ही गाँठ दे देना जैसा अनचाहा पूर्वग्रह या पूर्वाग्रह होगा। पर समझ का एक संस्कार और भी है जो हमें कवि-कर्म को कर्म कहने से टोकता है। हम कर्म का सम्बन्ध कर्मेन्द्रियों की चेष्टा से जोड़ते हैं। कविता करने में कर्मेन्द्रियाँ कुछ करतीं ही नहीं, फिर उसे कर्म कैसे कहें?

पर कर्म को कर्मेन्द्रियों से कहाँ तक जोड़ा जाये यह अपने आप में सोचने की बात है। क्रिया को हम कर्मेन्द्रिय से जोड़ें तो समझ में आता है। पर कर्म तो क्रिया से नितान्त भिन्न है। उसका संकल्प और विवेक से, औचित्य-बोध और औचित्य-विमर्श से सम्बन्ध है—इनको तो किसी भी अर्थ में क्रिया नहीं कह सकते, और इनके बिना कर्म का क्षेत्र ही नहीं बनता।

अगर कर्म को यों किसी अन्तरंग बोध से और विमर्श से जोड़ें तो प्रश्न होगा कि कर्म का बाह्य रूप उसके आन्तर रूप से कैसे सम्बद्ध है? यों तो यह प्रश्न हमारी किसी भी प्रवृत्ति के बारे में उठाया जा सकता है, और उठता ही है—विचार के बारे में, कला के बारे में, यहाँ तक कि अध्यात्म-साधना के बारे में। ऐसी किसी भी प्रवृत्ति के बारे में उठ सकता है। पर कर्म के बारे में यह मानो विशेष उठता है। कर्म में यह बोध गहरा होता है कि कर्म हम अपने से बाहर, अपने से भिन्न और अन्य किसी के प्रति करते हैं। वहाँ हम किसी और तथा कुछ और के सम्मुख होते हैं। मुझे तो यहाँ तक लगता है कि कर्म और उसके औचित्य-बोध में जो अपने से भिन्न और अन्य की चेतना संश्लिष्ट, बल्कि कहना चाहिए कि अविनाभावेन निहित है वही चेतना हमारे बाह्यत्व-बोध की भी प्राण है। वही हमें अपने से बाहर जगत् की ओर खींच कर ले जाती है। 'प्राण' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर इसलिए कर रहा हूँ कि यों तो हमारी चेतना सहज ही बाह्य-उन्मुख है और बोधमात्र में बाह्यत्व की स्थापना स्वभाव-सिद्ध लगती है, पर कर्म-भिन्न क्षेत्रों में इस बोध का निराकरण वैसा पर्यवेक्षी नहीं होता जैसा कर्म में। कर्म के बाहर हम बाह्य की स्वीकृति के औचित्य को गहरे सन्देह के जाल में कस सकते हैं। पर कर्म में 'बाहर' और उस बाहर में बसने वाला अन्य दूसरा कोई, विशेष कर हम जैसा ही दूसरा कोई, भी है इसका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बोध चेतना के केन्द्र में होता है। लगता है जैसे दूसरे का निराकरण अपना ही निराकरण होगा।

पर कर्म के इस स्वरूप की चर्चा आगे करूँगा। यहाँ प्रसंगवश इसे छेड़ा भर है। कर्मेन्द्रियों के प्रसंग में बाहर की बात उठी थी और यह सच है कि कर्मेन्द्रियों के साथ कर्म का जैसा निबिड़ सम्बन्ध है वह चाहे जैसा भी हो, चाहे पहेली ही हो, पर वैसा हमारी अन्य प्रवृत्तियों का नहीं जान पड़ता।

दूसरी ओर हम प्रवृत्ति मात्र को कर्म के रूप में देख सकते हैं। हमारी परम्परा में तो मैं समझता हूँ यह दृष्टि बहुत गहरे समायी हुई है कि प्रवृत्ति मात्र कर्म है। शंकर ने जिस ज्ञान को—ब्रह्मज्ञान को—कर्म से सर्वथा व्यावृत्त किया है उस ज्ञान के पहले तक तो 'वृत्ति' ही का पसारा है और वृत्ति प्रवृत्ति के बिना नहीं बनती। पर शंकर को यों न भी देखें तो भी दूसरे और भी मूलगामी विचार-बीज उभरते दिख जायेंगे। गीता में कृष्ण का वचन प्रसिद्ध है : न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत—क्षण भर भी कोई बिना कर्म किये नहीं रह सकता। इसका कारण कृष्ण प्रकृति और उसके गुणों को बताते हैं : कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः—प्रकृति के गुणों से प्रेरित होकर सभी अवश हो कर कर्म करते हैं। साँख्य का आधार यहाँ स्पष्ट है। शंकर अपने गीता भाष्य में यहाँ स्पष्ट रूप से साँख्य की बात उठाते हैं। वैसे उसकी ज़रूरत है नहीं। पर कृष्ण की उक्ति में अगर साँख्य का आधार स्पष्ट है तो यह भी प्रकट है कि यहाँ कर्म को बहुत व्यापक अर्थ में लिया जा रहा है। शल्यजी के एक पैठ के मुहावरे में कहें तो कह सकते हैं कि चेतना का पूरा का पूरा 'जगद्भाव' कर्म-व्याप्त है।

मैं यहाँ साँख्य में प्रवेश नहीं करना चाहता। वहाँ से एक इंगित लेना चाहता हूँ जो हमारी आत्मचेतना में स्वतःस्पष्ट ही होता है। साँख्य ने जो बात कही है उसका मूल भी आत्मचेतना में देखा जा ही सकता है। चेतना का अपने विषय से सम्बन्ध, कम से कम आत्मचेतना का अपने विषय से सम्बन्ध, निष्क्रिय, निश्चेष्ट नहीं होता। चेतना में प्रवृत्ति सहज है। चेतना की ऐसी अवस्थायें भी होती हैं जैसी स्वप्न में, जहाँ प्रवृत्ति आत्म-चेतन नहीं होती—हालांकि 'नहीं होती' यह ज्ञान हमें आत्मचेतना में ही होता है। दूसरी भी ऐसी अवस्थायें होती हैं जब चेतना प्रवृत्त नहीं होती, बरबस अभिभूत हो जाती है, जैसे पीड़ा में या गहरे दुःख में। स्वप्न की अवस्था में हम आत्मचेतन नहीं होते। पीड़ा में आत्मचेतना रहती है, न रहे तो पीड़ा की अनी भी वैसी न चुभे जैसी कि चुभती है। मानसिक दुःख शरीर की पीड़ा से बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है, वह आत्मचेतना के बिना संभव ही नहीं लगता। पर शायद इतना कह सकते हैं कि इस अवस्था में आत्मचेतना उतनी स्वतंत्र, उतनी आत्मस्थ नहीं होती जितनी अन्यथा हो सकती है। जैसे विचार में। विचारों में ही हम द्रष्टाभाव का विवेक लेकर इन अवस्थाओं की तुलना भी कर सकते हैं। इन्द्रियबोध की स्थिति को सिद्ध या प्रदत्त भी कहा गया है। और इसी अर्थ में उसे 'निर्विकल्प' कहना सार्थक लगता है। पर यह एक अलग विवाद है। जो भी हो, इन्द्रिय-बोध का बोध अंश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जहाँ जागता है, ज्ञान देता है, वहाँ आत्मचेतन ही होता है। आत्मचेतना के साथ यों गुँथे रहने के कारण वह बोध हमें केवल 'होता' ही नहीं है। हम इन्द्रियबोध करते भी हैं—भ्रांति, उसका निराकरण, अवधान ये आत्मचेतना में ही संभव हैं, और ये इन्द्रियबोध के क्षेत्र में भीं होते ही हैं। फिर इन्द्रियबोध में हम पैठते भी हैं—जैसे रसिक कलाकार—और यह प्रवृत्ति आत्मचेतना ही की है। चेतना की भिन्न अवस्थाओं में स्पष्ट ही भेद है पर एक बात और भी स्पष्ट है : भेद स्वतःस्पष्ट नहीं होता, वह विमर्श-चेतना पर ही प्रकट होता है, जोकि आत्मचेतना के केन्द्र में है।

ऐसे भी प्रचुर क्षेत्र हैं ही जिनमें चेतना आत्मबोध के साथ स्वायत्त प्रवृत्त होती है। आत्मचेतन स्वतन्त्र प्रवृत्ति के बिना ये क्षेत्र बनते ही नहीं। विचारकर्म तो है ही, कविकर्म, नृत्यकर्म भी ऐसी ही प्रवृत्ति के क्षेत्र हैं। ये चेतना की प्रवृत्ति के ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें पुरुषार्थ की कोटि में भी रखा जा सकता है—इन प्रवृत्तियों में मनुष्य अपने-आप को अपने 'आपे' में अधिक पाता है। इनको मनुष्य साधता भी है और इन्हीं में वह जैसे अधिक 'होता' भी है। आत्ममय) कविकर्म, नृत्यकर्म, ये सहज प्रवृत्तियाँ भी हैं और साधी भी जाती हैं। इन्हें कर्म कहने का यही तात्पर्य है। नहीं तो इन्हें क्रिया ही कहा जा सकता था, चाहे चेतना ही की सही।

ये क्षेत्र एकाधिक हैं, फिर भी 'कर्म' शब्द का साधारण, सहज अर्थ कर्म को नैतिकता या धर्म से ही जोड़ता है। उस अर्थ को हम कर्म का भीतरी अर्थ कह सकते हैं या 'कर्म' पद का मूल प्रवृत्ति-निमित्त। हमारा प्रयास होगा कि कर्म के दूसरे अर्थों से हम उस 'भीतरी' अर्थ को अलग करें : इस अपोह से उसके अपने स्वरूप का ऊह—उसकी विचारमयी कल्पना, धी या बुद्धि—यह अधिक निथर कर सामने आ सकती है। अब ऐसा व्यावृत्ति-कर्म विचार का स्वतन्त्र कर्म है। कई तरह से किया जा सकता है। व्यावृत्ति का ध्येय निरा अपोह भी हो सकता है—नेतिपरक : बस यही आँकना कि जिसे हम पकड़ना चाहते हैं वह क्या नहीं है। पर इस प्रवृत्ति में ही व्यावृत्ति का दूसरा प्रयोजन भी छुपा है : उद्दिष्ट वस्तु का लक्षण, उसके स्वरूप की परख। आलंकारिकों के मुहावरे में कहें तो इस प्रश्न का उत्तर ढूँढना कि 'कर्म की आत्मा क्या है?' दूसरे शब्दों में, उसका तत्त्व क्या है? या उसका मर्म क्या है? यह देखना भी व्यावृत्ति का उद्देश्य होता है। 'मर्म' शब्द को जानबूझ कर लाया हूँ। मैं समझता हूँ कि कर्म के स्वरूप में एक मार्मिक उलटबाँसी है जो मानो कर्म-चेतना के हृदय में बिंधी रहती है। यों तो हमारी चेतना—आत्मचेतना—उलटबाँसियों का घर है। सबसे बड़ी उलटबाँसी तो आत्म-चेतना स्वयं है—तभी उलटबाँसियों का घर है। अपनी ही खोज में वह अपना किनारा नहीं पाती है। और उसकी प्रवृत्तियाँ—उसके 'कर्म'—उसीकी पहेली के अंग हैं। पर खोज का रोमांच, उसकी पुलक भी यही है। कहा जाता है कि विचार का जन्म विस्मयबोध में होता है। उस विस्मय के नगर में उलटबाँसियों के ही घर दिखेंगे।

पर उलटबाँसी क्या? विस्मय तो पहेली में भी होता है। इसीलिए कुछ आलंकारिकों ने काव्य की अकाव्य से व्यावृत्ति करते हुए पहेली को काव्य की चौखट के भीतर ही रखा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। पर पहेली तो एक हलकी सी चतुराई की बात होती है, उसका विस्मय भी बुलबुले की तरह तभी फूट जाता है—हवा हो जाता है। उलटबाँसी में विस्मय और गहराता है। अगाध की ओर ले जाता है। पहेली में विस्मय जैसे चुहल करता हुआ सतह पर ही तैरता रहता है। गहरे जा नहीं सकता। उलटबाँसी में पहेली का एक ऊपर ऊपर का सा सादृश्य या साधर्म्य हो सकता है, पर उसकी आत्मा एकदम भिन्न होती है। उलटबाँसी विचार के चिरन्तन प्रश्न जगाती है। और वहाँ उत्तर की वैसी बात करना जैसे पहली के होते हैं—यह बेबात की सी बात होगी। वहाँ खरी बात यह होती है कि डुबकी कितनी गहरी लगी। शल्यजी की एक पुस्तक है **सत्ता विषयक अन्वीक्षा**, जहाँ वे चिन्तन की पूरी गहराइयों में उतरे हैं। पुस्तक की भूमिका में—जिसे उन्होंने 'प्रवेश' कहा है—उसमें वे कबीर की एक साखी को अपने चिन्तन की साख बनाते हुए पाठक के आगे रखते हैं : प्रियतम को पतियाँ लिखूं, जो कोई होय बिदेस/ तन में, मन में, नयन में, वाको कहा सँदेस? यहाँ उलटबाँसी जैसी ही व्यंजना है—एक अनबूझ पहेली। अभेद में भेद से जागता विचित्र विरह है, जिसको अनकहनी ही कह सकते हैं। इस विरह में एक व्याकुलता है जो दिगन्त के परे दिगन्त, अनन्त तक फैली दिखती है। शल्यजी कहते हैं : 'व्याकुलता इस बात की द्योतक है कि प्रियतम एक-साथ बिदेस में भी है और तन-में-मन-में-नयन-में भी हैं।' विचार या दर्शन का मर्म वे इसी अपने-ही-परायेपन के भेद-अभेद के विमर्श में पाते हैं। हम उलटबाँसी को आत्मचेतना की उलटबाँसी भी कह सकते हैं, और शल्यजी के दर्शन में इस बात की साख पा सकते हैं—वे विचार और दर्शन का आधार ही आत्मचेतना को ठहराते हैं।

आत्मचेतना के स्वरूप में ही यह अपने-पराये का भेद-अभेद निगूढ़ है। यही कर्म में एक विशेष रूप लेता है। लोक में साकार हो जाता है। चेतना को कचोटता है। यहां मैं इसी मर्म पर अपनी व्यावृत्ति के द्वार से बढ़ूंगा। दिखाने की यह चेष्टा करूँगा कि कर्म की उलटबाँसी धर्म और नीति के विचित्र और चुभते हुए भेद-अभेद में बसी है। कर्म का औचित्य धर्म है, नीति उसके विरुद्ध जाती है, पर धर्म में नीति को समोये बिना कर्म का स्वरूप ही बनता नहीं दिखता।

कर्म की एक व्यावृत्ति तो हम आरम्भ से ही कर सकते हैं जिसका इंगित हम दे भी आये हैं—यों भी इस व्यावृत्ति के बिना कर्म की बात ही निरर्थक है। कर्म क्रिया से भिन्न है। क्रिया जड़ व्यापार हो सकती है पर कर्म जड़ नहीं हो सकता। कर्म क्रिया मात्र हो तो कर्तृत्व की बात ही नहीं उठेगी, और यह प्रश्न : किं मया कर्त्तव्यम्—मुझे क्या करना चाहिये? या और भी उपयुक्त शब्दों में कहें तो 'मेरे लिए क्या करना उचित है?' यह प्रश्न, जोकि कर्मबोध के मूल में है, यह प्रश्न भी नहीं उठेगा। और यहाँ बात केवल 'मुझे' या 'मेरे' की—केवल मैं की—नहीं है। प्रश्न यह भी है कि हमें क्या करना चाहिये? हमारे लिए क्या करना उचित है? हम कर्म व्यक्ति रूप में ही नहीं, समष्टि के रूप में भी करते हैं। और समष्टियों की छोटी-बड़ी कई इकाइयाँ होती हैं जो परस्पर कर्म-रत रहती हैं। यही नहीं, मनुष्य के रूप में जो हमारी महासमष्टि है उसके लिए भी प्रश्न उठता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि हमारा मनुष्येतर के प्रति क्या कर्त्तव्य है? आजकल यह प्रश्न मानव विषयक गोष्ठियों में विभीषिका की तरह सर उठाता दीखता है, पर प्रश्न नया नहीं है, और केवल समष्टि का प्रश्न नहीं है, व्यक्ति का भी है। समष्टि की बात यहाँ बड़ी यों हो जाती है कि आज परिस्थिति ने जो रूप लिया है उसमें बात व्यक्ति मात्र के हाथ से कहीं दूर निकल चुकी है। कर्म क्रिया मात्र होता तो ऐसे प्रश्न हमें नहीं सताते।

जो भी हो, कर्म क्रिया से भिन्न होते हुए भी क्रिया को अपने भीतर रखता है, क्रिया को निष्पन्न करता है। हमारा कर्तृत्व हमारे निष्पादक-भाव में है, क्रिया जिसका अंग होती है। यों कर्म का एक लक्षण हम चाहें तो यह कर सकते हैं कि कर्म वह है जो क्रिया द्वारा निष्पन्न किया जाता है। यों कर्म को हम क्रिया-निष्पाद्य की संज्ञा दे सकते हैं। निष्पादक कर्त्ताभाव होता है क्रिया नहीं। कर्म और क्रिया का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध हम कर्मेन्द्रियों की चेष्टा में पाते हैं। क्रिया हम जड़ के व्यापार को ही कहते हैं, और जड़ को भी हम व्यापृत करते ही हैं। हमारे कर्म का एक बड़ा उद्देश्य ही जड़ को या जड़ में निहित क्रिया को अपने नियन्त्रण में लाकर उसे अपने साध्य के अनुकूल प्रयोजनमय बनाना होता है। हम जड़ से अपने लिए यन्त्र बनाते हैं और यन्त्र को काम में लाते हैं। ये काम काम और अर्थ के ही नहीं धर्म के भी होते हैं। यहाँ राजा भोज ने अपने **समराङ्गणसूत्रधार** में जो यन्त्र का लक्षण दिया है वह देखिये। उन्होंने यन्त्र बनाने की विधि बताते हुए आरम्भ में ही कहा है कि यन्त्र धर्मार्थमोक्षकाम का कारण होता है। यह अर्थवाद मात्र नहीं है। मोक्ष का तो नहीं पर काम-अर्थ, अर्थ-धर्म का तो यन्त्र कारण होता ही है।

भोज ने धार में ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्ध में राज्य किया। कई पूर्ववर्ती और परवर्ती शासकों के समान वे कुशल राजा ही नहीं, कवि, सहृदय और पण्डित भी थे। उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे जिनमें **शृङ्गारप्रकाश** प्रसिद्ध है। उनका वास्तु पर लिखा **समराङ्गणसूत्रधार** भी कम प्रसिद्ध नहीं है। **समराङ्गण** में एक अध्याय यन्त्रों पर है। अध्याय का नाम है 'यन्त्रविधानम्'। अध्याय के आरम्भ में ही भोज यन्त्र का लक्षण, उसकी परिभाषा, देते हैं। दो भिन्न परिभाषायें हैं। पहली है : 'भूतपदार्थ यदृच्छा से—बिना कारण, बिना प्रयोजन, आगन्तुक भाव से—अपनी गति से अपने मार्ग पर चलते हैं। उनको नियन्त्रित कर जो अपने काम में ले लेता है उसे यन्त्र कहते हैं—यदृच्छया प्रवृत्तानि भूतानि स्वेन वर्त्मना / नियम्यास्मिन् नयति यत् तद् यन्त्रमिति कीर्तितम्। भोज का इस परिभाषा के प्रति कोई सिद्धान्त-विशेष-ग्रस्त आग्रह नहीं है कि भूत-पदार्थ और उनकी गति स्वरूप से ही आगन्तुक या यादृच्छिक होते हैं। अगले ही श्लोक में भोज एक और बड़ी भिन्न परिभाषा देते हैं। कहते हैं : 'या यों समझिये कि भूतपदार्थ स्वच्छन्द भाव से, स्वेच्छा से—अपनी बुद्धि के अनुसार प्रवृत्त होते हैं। यन्त्र उनके कृत को—उनकी करनी को—अपने बस में कर लेता है—'यमयति'—इसीलिए 'यन्त्र' कहलाता है—स्वरसेन प्रवृत्तानि भूतानि स्वमनीषया / कृत यस्माद् यमयति तद्वा यन्त्रमिति स्मृतम्। (**समराङ्गणसूत्रधार**, गायकवाड़ संस्करण, अध्याय 39, श्लोक 3 और 4)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यन्त्र की इन परिभाषाओं की ओर किसी का ध्यान नहीं गया है पर ये हमारी यहाँ चर्चा में काम की हैं। यहाँ यन्त्र में कर्म का यह पक्ष स्पष्ट है कि कर्म जड़ की क्रिया को अपने अनुकूल साधता है। दूसरी परिभाषा में भोज ने भूत पदार्थों को जड़ नहीं माना है, उनकी अपनी-सी, चेतनामयी-सी गति मानी है। आगे के यन्त्र-विधान में जहाँ भोज भूतपदार्थों के स्वरूप और शक्तियों की, और उनके नियमन के उपायों की बात करते हैं वहाँ वे इन पदार्थों को जड़वत् ही मान कर चलते हैं—उनकी कोई स्वतन्त्र चेतना या मनीषा जैसा कुछ हो तो उस मनीषा का मनीषा के रूप में ज्ञान उनके नियमन में उपयोगी नहीं समझते। वैसे भी कर्म के लिए किसी का हम नियमन करें तो आवश्यक यह है कि जिसका हम अपने उपयोग में नियमन करते हैं उसकी गति के कार्य-कारण भाव का ज्ञान हो और उस ज्ञान को उपाय रूप में प्रयुक्त करने की विधि पकड़ में आये। ऐसा नियमन यन्त्र में तो होता ही है, चेतन प्राणी के साथ भी हम ऐसा करते हैं। जानवरों का उपयोग इसी कोटि में आता है। मनुष्यों का भी इसी प्रकार उपयोग किया जाता है। दास-प्रथा में तो उन्हें जानवर जैसा ही माना भी जाता था। मनुष्यों को हम दास न भी बनायें तो भी उनको अपने काम में लेने का कौशल हम साधते ही हैं, और ऐसे कौशल का बड़ा मोल करते हैं।

एक बात लक्ष्य कीजिये। जैसे ही हम जड़ के नियमन से उठकर पशु और मनुष्य के नियमन पर आते हैं एक प्रश्न सताने लगता है। औचित्य का प्रश्न। क्या पशु के साथ, और विशेष कर मनुष्य के साथ, यन्त्र जैसा व्यवहार करना उचित है? हम उनके चरित को कार्य-कारण भाव से पकड़ कर उन्हें यन्त्र की तरह अपनी इच्छा से चला भी सकें तो क्या यह ठीक होगा? भोज की दूसरी परिभाषा में हमें कुछ सत्य दिखता हो और हम यह विश्वास पालते हों कि जिसे हम जड़ पदार्थ समझते हैं वह चेतन है, उसकी अपनी इच्छा है, मनीषा है, तो फिर उसके प्रति भी हमारे बर्ताव में यह प्रश्न जागेगा। प्रश्न औचित्य का है, जिसे हम क्रिया के प्रयोग का औचित्य भी कह सकते हैं। भोज ने जब यह कहा कि भूत पदार्थों की गति यादृच्छिक ही नहीं हो सकती है अपने किसी प्रयोजन से भी प्रेरित हो सकती है, तो उनके कथन में एक ध्वनि है जिसे हम सहज ही भाँप ले सकते हैं। ध्वनि यह है कि भूत-पदार्थों का अपना प्रयोजन-व्यापार अगर हो भी तो भी जिसे हम चेतना के रूप में जानते हैं उस चेतना के प्रयोजन-व्यापार से वह सर्वथा भिन्न है, ऐसा भिन्न कि उसका नियमन हम उचित-अनुचित की बात सोचे बिना स्वच्छन्द भाव से कर सकते हैं। उसका प्रयोजन हमारे उद्देश्यों से इतना इतर है, इतना 'पराया' है कि उसे धर्म जैसी किसी गिनती में रखना आवश्यक नहीं। अगर हम ऐसा नहीं सोचें और भूत पदार्थ के 'प्रयोजन' को अपने जैसे प्रयोजनों के कुछ भी समकक्ष देखें तो उनके यन्त्रवत् यथेच्छ नियमन का प्रश्न उचित-अनुचित का प्रश्न हो जायेगा।

ऐसे प्रसंग में उचित-अनुचित को आँकने के दो प्रत्यय अपने आप आगे आयेंगे : धर्म और नीति। उचित की बात यहाँ धर्म की बात है। प्रश्न है, हमें करना क्या चाहिये, क्या किसी चेतन प्राणी को यन्त्र की तरह काम में लेना ठीक होगा? धर्म होगा? हो सकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है कि इससे हमारा अपना काम, हम जो अपने लिए साधना चाहते हैं वह आसान हो जाये और यों यह नीति के रूप में अच्छा हो, पर सताने वाला प्रश्न तो यही है कि बात क्या यहाँ नीति की है या कहीं धर्म का भी इसमें प्रवेश है? मनुष्य के साथ ऐसा अपनी सुविधा का नीति जैसा व्यवहार हो तो औचित्य का प्रश्न और तीखा हो जायेगा। मनुष्य हमारी तरह स्वतन्त्र, आत्मचेतन है। उसके प्रयोजन किसी संभाव्य इतर चेतना से अनुप्राणित नहीं हैं, जिसे चेतना ही कहना भ्रान्ति प्रतीत होता है। मनुष्य के प्रयोजन हमसे अभिन्न हैं, हमारी ही तरह औचित्य-बोध से अनुप्राणित हैं, हमारी ही तरह दूसरा मनुष्य भी ज्ञान, भाव, कर्म के पुरुषार्थों का साधक है, उसमें वही अध्यात्म-बीज है जो हममें है। क्या उसके प्रति यन्त्र जैसा, जड़ जैसा व्यापार ठीक होगा? उसके प्रति 'व्यापार' की बात ही व्याहत सी लगती है—बात यहाँ 'व्यवहार' की होनी चाहिये, 'व्यापार' की नहीं।

आप पूछ सकते हैं, क्यों? युक्ति क्या? पर सोच कर देखिये, इस प्रश्न में एक पूर्वाग्रह समाया हुआ है। हम 'क्यों' पूछते हुए पूछ यह रहे हैं कि किसलिए? और युक्ति की जो माँग कर रहे हैं उस माँग में समाया यह हुआ है कि जड़, चेतन, मनुष्य, माना कि इनमें अन्तर है, पर इससे यह कैसे सिद्ध हुआ कि इनके प्रति हमारी चेष्टा ही भिन्न हो? इसके लिए युक्ति क्या है? इस प्रश्न के पीछे एक पूर्वाग्रह है, एक मूलगत दृष्टि या दर्शन है जो कर्म में धर्म जैसे किसी औचित्य के तत्त्व को स्वीकार नहीं करना चाहता। यह मत हमारी प्रवृत्ति को इच्छामयी प्रवृत्ति मानता है और व्यवहार का मूल इच्छा-तन्त्र उपयोग में देखता है। इसके लिए नीति ही पर्याप्त है, औचित्य के लिए धर्म जैसे किसी अतिरिक्त तत्त्व की आवश्यकता नहीं। प्रति प्रश्न हो सकता है कि जड़, चेतन, मनुष्य, इनमें कोई कोटिगत अन्तर करने की फिर आवश्यकता ही क्या? लेकिन इस अन्तर के पीछे अभिप्राय केवल इनके 'होने' में भेद करने का नहीं है—बात इनकी सत्ता की नहीं है। बात इनके प्रति प्रवृत्ति की, शील की, आचरण की है। इसके बिना इनके 'होने' में भी कोई गहरा कोटिगत भेद करना उपचार मात्र जान पड़ता है।

उत्तर में कहा जा सकता है कि सत्ता-भेद के पीछे कोई व्यवहार-दृष्टि माननी ही पड़े तो इच्छा-तन्त्र पर आधारित उपयोग-भेद को ही ले लीजिये। उसीसे बात बन जायेगी।

माना बात बन जायेगी। पर क्या बात बनेगी? मनुष्य को किसी प्रकार का उदात्त या उच्चतर आसन देने की बात तो नहीं बनेगी। आज ही की कहानी के किसी महादैत्य को लीजिये। पुराणों के दैत्यों से कहीं अधिक भयानक रुद्र होते हैं ये दैत्य। जड़ पर विजय प्राप्त कर हमारा महादैत्य घोर से घोर यन्त्र हथिया लेता है। अब उसकी इच्छा हो जाये—और इच्छा का और कोई आधार नहीं हो सकता—मान लीजिये इच्छा हो जाये कि मैं मनुष्य-लोक, पशु-लोक सब को नष्ट कर दूँ। मान लीजिये इच्छा का कोई कारण भी हो, जैसा कहानियों में होता भी है। कहानी के लिए हम ऐसा मान सकते हैं। पर सच पूछें तो इच्छा न कोई कारण चाहती है, न आधार। इच्छा तो बस होती है। और ऐसी 'हो' सकती है कि अपने होने से हमें अभिभूत कर दे। किसी वस्तु के होने पर हम सन्देह कर सकते हैं, इच्छा के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होने पर नहीं। कहानी में 'दैत्य' की इच्छा पूरी नहीं होती। हमारा शूरवीर महानायक महादैत्य को खेत कर देता है और यन्त्र को नाकाम।

कहानियाँ धर्म की धरती पर लिखी जाती हैं। धर्म को ऊह्य मानकर चलती हैं, नीति को नहीं। पर कहानी से बाहर निकल कर हम पूछें कि महादैत्य की सर्वनाशी इच्छा क्यों न पूरी हो तो उत्तर क्या होगा? इच्छा को परम मानने वाले विचारतन्त्र की ओर से कोई उत्तर नहीं हो सकता। यह बात और है कि ऐसे विचारकों का विचार कुछ भी हो उनका मानस कहानी की उसी धरती पर रहता है जहाँ इच्छा से परे किसी धर्म जैसे औचित्य की सहज स्वीकृति होती है।

जड़, चेतन, आत्मचेतन मनुष्य यह अन्तर इसी भूमि पर सार्थक है। नहीं तो इनके 'होने' मात्र में न सही चेतना के आधार पर ही सही, कोई लक्षणगत भेद हम करें भी तो क्या विशेष बात है? यह भेद तो नहीं भी कर सकते हैं। या लक्षणगत कोई और भेद कर सकते हैं, किसी और आधार पर। लक्षणकर्म तो कई आधार, कई दिशायें ले सकता है।

भेद जब चेतना का आधार लेता है और चेतना को चेतन और आत्मचेतन में बाँटता है तो तात्पर्य केवल लक्षण-वर्णन-गत भेद करने का नहीं होता। हो तो तात्पर्य पूरा फलता नहीं दिखता। तात्पर्य के पीछे जो विवेक है वह केवल विवेचना में व्यस्त नहीं है, केवल किसी सिद्ध वस्तु के गुणधर्म नहीं भाँप रहा। उसमें एक साध्य की प्रेरणा है। एक श्रेयस् का संकेत है जो आचरण में उतर आने की माँग करता है। जड़, चेतन, आत्मचेतन, इनके प्रति हमारा बर्ताव, हमारी चेष्टा एक नहीं हो सकती। और बर्ताव का प्रश्न यहाँ मूलतः ही स्वार्थ-केन्द्रित नहीं है कि हम इनके भिन्न गुणधर्मों को देखते हुए इनका भिन्न रूप से कैसे ठीक-ठीक उपयोग करें! यह इच्छातन्त्र का प्रश्न हो सकता है, विवेक का नहीं। हमारे महादैत्य की इच्छा अगर राज करने की हो, सर्वनाश साधने की नहीं तो उसका यह प्रश्न हो सकता है। पर विवेक के लिए भेद का अभिप्राय ही और है। भेद उसकी दृष्टि को ही उलट देता है। दृष्टि स्व से पर की ओर मुड़ जाती है। और यह चेतना की एक सनातन उलटबाँसी है। आत्मचेतना मनुष्य को विषय-विषय में भेद करने का विवेक ही नहीं देती जो ज्ञानवृत्ति का मूल है, वह हमारी क्रिया को भी क्रिया मात्र से उठा कर कर्म के सोपान पर बैठा देती है, जहाँ हम क्या करें यह प्रश्न इच्छा मात्र का प्रश्न ही नहीं रहता, धर्म का प्रश्न हो जाता है। क्या भद्र होगा, श्रेयस् होगा, शिव होगा, इसका प्रश्न हो जाता है। बुद्धि ज्ञान की वृत्ति में भी होती है, गुणधर्म के आधार पर पदार्थ-भेद साधती है। और बुद्धि इच्छा-लोक में भी होती है, कार्यकारण के सूत्र से यह उपाय-कौशल साधती है कि काम की सिद्धि कैसे हो! इस उपाय-कौशल की साधना में भी हम एक प्रकार के औचित्य का बीज देख सकते हैं। यही बीज यन्त्र बनाने में भी है। भोज के 'यन्त्रविधान' में यन्त्रनिर्मिति के उपायकौशल का ही विधान है। संयोग की बात है कि वहाँ भिन्न क्रियाशील पदार्थों को—जल, अग्नि, वायु को—'बीज' का नाम दिया गया है जो यन्त्र बनाने के लिए भूमि-पदार्थ में 'वपित' होता है। वहाँ 'औचित्य' शब्द का प्रयोग अटपटा ही लगेगा। करने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को यन्त्र की उपाय-साधना—और इसको हम 'नीति' के समतुल्य कह सकते हैं—में भी 'औचित्य' की बात की जा सकती है पर वह विसंगत ही लगती है। क्योंकि बात का स्तर ही और है। औचित्य की बात वहीं संगत लगती है जहाँ चेतना अपने तन्त्र में स्थित हो। इच्छातन्त्र में वह विवश होती है। इच्छातन्त्र में वह अभिभूत होती है : इच्छा-नेय, इच्छा-परतन्त्र। वहाँ वह सही अर्थ में आत्म-चेतन होती ही नहीं, क्योंकि आत्म-चेतना स्वतन्त्र चेतना भी है। इच्छा यदृच्छा-मयी होती है। उसके लिए 'स्वतन्त्र' शब्द का प्रयोग विषम ही होगा।

इच्छा और इन्द्रियों में साम्य दिखता है। दोनों चेतना के एक ही स्तर पर स्थित जान पड़ते हैं। चेतना यहाँ परतन्त्र होती है। इच्छा-तन्त्र इन्द्रियतन्त्र भी होता है। या कम से कम इतना तो शायद हम कह सकते हैं कि कर्म की जो दृष्टि इच्छा-पूर्ति को ही 'औचित्य' का आधार बनाती है वह ज्ञान में इन्द्रियों को ही ज्ञान का आधार और उसकी परिधि बनाती है।

वह पूछती है कि जड़, चेतन, आत्मचेतन मनुष्य इनमें अन्तर करने का उपयोग क्या? लाभ क्या? दिखने में सब एक से दिखते हैं, उसी 'देशकाल' में उसी तरह से स्थित। उन्हीं इन्द्रियों के उसी तरह से विषय। सब हमारे काम आ सकते हैं। इच्छापूर्ति के विषय हो सकते हैं। उनमें एक कोटिगत अन्तर की बात, इसके लिए प्रमाण क्या? स्पष्ट ही है कि इसके लिए इन्द्रिय-बोध प्रमाण नहीं हो सकता जिसकी कि यहाँ माँग हो रही है। हमारी चेतना के दूसरे ही आयाम प्रमाण हो सकते हैं जो इन्द्रिय-बोध मात्र से भिन्न हैं। अनुमान प्रमाण की बात की जा सकती है। पर अनुमान—और इसमें तर्कमात्र को भी हम ले सकते हैं—उसकी व्याप्ति किसी और इन्द्रिय-बोध या ज्ञान को आधार या प्रतिज्ञात मान कर उसी से व्याप्त कुछ उपपन्न या अनुपपन्न करे तो इच्छा की परिधि बाहर नहीं जा सकता। हम मान भी लें कि हम इन्द्रियबोध के आधार पर यह अनुमान कर सकते हैं कि हमारी ही तरह देशकाल में स्थित जड़ पदार्थ ही नहीं, चेतन और आत्मचेतन 'पदार्थ' भी होते हैं। क्योंकि ज्ञानमात्र का आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। उत्तर में यहाँ प्रश्न होगा कि इन्द्रियों का अपने आप में ज्ञान होता ही क्या है? इन्द्रियाँ एक स्पन्दन ही तो हैं—उन्हें जड़ कहें या न कहें, यह एक प्रश्न ही बना रहता है। चेतना की अन्य वृत्तियों के बिना वे किसी बोध या ज्ञान का आधार बनती ही नहीं। पर कई विचारक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही ज्ञान के केन्द्र में रखते हैं। उनका एक पूर्वग्रह होता है, जो इन्द्रियों के प्रति उतना नहीं होता जितना एक दृष्टि या दर्शन विशेष के प्रति होता है। दृष्टि यह है कि 'होता' वही है जो देशकाल में स्थित, वस्तु जैसा कुछ, होता है—या कम से कम 'होने का मूल' वही 'होना' है, शेष 'होना', जैसा भी हो, 'मूल' में वह इन्द्रिय-आश्रित ही होता है।

इन्द्रियबोध प्रत्यक्ष है, ऐसा प्रत्यक्ष कि प्राणों में बसा हुआ है—उससे इन्कार करना धोखा ही हो सकता है। आत्मवंचना। इच्छा भी वैसा ही प्रत्यक्ष है। उसके मूल में भी निश्चय की वही स्वतःसिद्धता है। उससे भी इन्कार करना अंधापन ही जान पड़ता है। काँट जैसे दार्शनिकों ने तो दोनों को प्रत्यक्ष की एक ही कोटि में रखा भी है। पर क्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हमारा धर्म-बोध और धर्म का औचित्य क्या? इसे जानने-साधने की आकूति, यह प्रत्यक्ष नहीं है? अगर इच्छा जैसी अंतर की वृत्ति को हम प्रत्यक्ष कह सकते हैं तो धर्म-बोध जैसे अन्य बोधों को क्यों नहीं, जहाँ औचित्य की बात बोध की आत्मा ही होती है!

यहाँ अपनी बात को बढ़ाने के लिए इन्द्रिय-बोध और आत्मचेतना में एक अनुभव-सिद्ध स्तर-भेद की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। मैं समझता हूँ कि बात की यह दिशा हमारी व्यावृत्ति के प्रयत्न को भी सामग्री देगी। पसारा देगी।

लक्षणीय है कि व्यावृत्ति या अपोह की बात हम इन्द्रियबोध की भूमि पर भी कर सकते हैं। वहाँ भी अपोह द्वारा किसी बोधगत वस्तु या गुण को बोध में अधिक जगा कर वस्तु या गुण के 'स्वरूप' को परखना हमारे अवधान का उद्देश्य होता है। जो पेड़-सा लग रहा है उसे ध्यान से देखना कि पेड़ ही है। इससे आगे बढ़कर उस बोध में और तन्मय होकर डूबना भी हमारा उद्देश्य हो सकता है। परख या तन्मयता की साधना में आत्मचेतना भी जागती है। पर यहाँ आत्मा की खोज नहीं होती। जिसमें हम डूबते हैं उसकी 'आत्मा' क्या है, यह प्रश्न यहाँ हो भी तो लाक्षणिक ही हो सकता है। वह प्रश्न इन्द्रियबोध से ऊपर उठने पर ही उठता है। इसलिए यहाँ औचित्य का प्रश्न भी नहीं उठता। उठे भी तो इसी रूप में उठता है कि क्या ऐसा तन्मयभाव उचित भी है? उस तन्मयभाव के भीतर किसी औचित्य की बात अवान्तर लगती है। सार्थक हो तो फिर हम इन्द्रियबोध के क्षेत्र से उठकर शिल्प-कला के क्षेत्र में होंगे। या कविता के क्षेत्र में। ये क्षेत्र आत्मचेतना के अपने स्वातन्त्र्य के अधिक निकट हैं। पर 'अधिक' कहने में एक तात्पर्य है। मैंने ऊपर परख और तन्मय-भाव में आत्म-चेतना की बात कही। ऐसी चेतना हम भोजन और गन्ध-व्यापार में देखते ही हैं। भोजन बनाने वाले का और गन्ध बनाने वाले का शिल्प भी होता है। आत्मचेतन होता है। इनके शास्त्र भी होते हैं। रसिक, सहृदय भी होते हैं। गुण-दोष-विवेक भी होता है। पर इन सबके होते हुए भी हमारा आत्म-बोध स्पष्ट ही पाता है कि ये क्षेत्र भी आत्मचेतन सही पर उतने नहीं जितने कविता, संगीत, विचार और कर्म के क्षेत्र होते हैं। कविता आदि आत्म-चेतना के 'अधिक' निकट महसूस होते हैं। विचार और कर्म तो स्पष्ट ही आत्म-चेतना की चौखट के भीतर हैं—गन्ध और भोजन-व्यापार को हम चौखट पर रख भी सकते हैं, पर चौखट के भीतर नहीं। ये पुरुषार्थ जैसे अर्थान्वेषण नहीं जान पड़ते। इनमें आस्वाद की बात हो सकती है, औचित्य की नहीं।

यहाँ चर्चा में ध्वनि यह है कि आत्म-चेतना और उससे इन्द्रियों का सम्बन्ध-भेद, इसे लेकर आत्म-चेतना में एक प्रकार-भेद और एक स्तर-भेद किया जा सकता है। मैं समझता हूँ कि ऐसा करने पर उन क्षेत्रों में भी भेद करने का एक सूत्र मिलेगा, जहाँ औचित्य की बात सार्थक होती है।

अगले लेख को इसी दिशा से आगे बढ़ाऊँगा। क्रमशः

ए 36/37, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, जयपुर-302006

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन - वर्ष 13-अंक 1
जनवरी, 1999

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परंपराओं के मूल स्रोत

(गतांक से आगे)

दयाकृष्ण

अवैदिक परम्पराएँ

इस सबसे जो एक बात स्पष्ट होती है वह यह है कि 'वेद' शब्द से बताये जाने वाले ग्रन्थों और उनमें कही गई बातों के बारे में न साम्य है और न कोई निश्चितता। इसलिए जो लोग श्रुति-प्रामाण्य या वेद-प्रामाण्य की बात करते हैं वे सब इसको भुलाकर ही कर पाते हैं। सच तो यह है कि 'वेद' केवल शब्द मात्र रह गया है और कोई यह जानने की भी चेष्टा नहीं करता कि परम्परा में इसका प्रयोग किस तरह से किया गया है और किन स्वार्थों की सिद्धि के लिए। 'स्वार्थ' का अर्थ यहाँ आज के प्रचलित अर्थ में न होकर केवल उस 'अर्थ' में है जो 'स्व' को स्वीकार हो या मान्य हो। 'वेद' शब्द से इंगित किये जाने वाले इस विशाल साहित्य के किस अंश को प्रामाणिक माना जाय और उसको किस अर्थ में लिया जाय, यह हरेक के 'स्व' पर निर्भर करता प्रतीत होता है। शायद भारतीय परम्परा की यही महत्ता है कि उसके प्रारम्भ से प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों के विषय में भी इतनी छूट दे दी गई है जो न बेचारे कुरान को मिली है और न बाईविल को। इसलिए जो लोग 'वेद' को इनके जैसा मानते हैं वे 'वेद' के सम्बन्ध में इस मूलभूत भेद को भुलाकर ही ऐसा कहते हैं।

पर वेद के बारे में कितनी भी अनिश्चितता हो पर इतना तो निश्चित ही है कि प्रारम्भ से ही कई परम्पराएँ अपने को अवैदिक मानती थीं और उनसे सम्बद्ध परम्परा का खुलकर विरोध करती थीं। बुद्ध और महावीर इन अवैदिक परम्पराओं में अग्रणी माने जाते हैं और इनका समय ईसा की छठी शताब्दी पूर्व समझा जाता है। उन्होंने बौद्ध और जैन परम्पराओं का प्रवर्तन किया। बौद्ध और जैन दर्शन के नाम से जानी जाने वाली इन परम्पराओं को 'नास्तिक' दर्शन का नाम दिया जाता है। इनमें से जैन परम्परा तो महावीर के पहले से ही प्रचलित मानी जाती है जबकि बौद्ध परम्परा का जन्म बुद्ध से ही प्रारम्भ समझा जाता है। महावीर से पहले भी अनेक तीर्थंकर हुए थे और उस परम्परा के सबसे पहले तीर्थंकर, जिनको ऋषभदेव कहा जाता है, का वर्णन स्वयं वेद में मिलता है। स्वयं महावीर के समय में उनके पहले के तीर्थंकर, जिनका नाम पार्श्वनाथ था, उनके अनुयायियों का प्रसंग मिलता है। परन्तु यदि यह सत्य है तो अवैदिक परम्परा का प्रारम्भ महावीर से बहुत पहले मानना होगा और अगर ऋषभदेव का वर्णन स्वयं वेद में है तो वेदों में ही अवैदिक धाराओं के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्णन मिलते हैं, ऐसा मानना होगा। यह ठीक है कि वेद में ऋषि और मुनि का भेद किया गया है। परन्तु इस भेद को वैदिक-अवैदिक रूप में स्वीकार करने का कोई आधार नहीं मिलता। महावीर से पूर्व की जैन परम्परा क्या थी और उसका वैदिक परम्परा से क्या सम्बन्ध था इस बारे में किसी विश्वस्त आधार के अभाव में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता, पर जहाँ तक बुद्ध और महावीर के समय से प्रारम्भ होने वाले युग की बात है उसके बारे में इतना तो निश्चित ही है कि उससे एक ऐसी परम्परा का प्रारम्भ होता है जो अपने को अवैदिक मानती है और जो वैदिक परम्परा के प्रधान स्तम्भ माने जाने वाले यज्ञ और वर्ण-व्यवस्था का विरोध करती है। ये परम्पराएँ श्रमण परम्परा के नाम से भी जानी जाती हैं, क्योंकि इनमें यह विश्वास किया जाता था कि चरम सत्य की खोज गार्हस्थ्य और समाज को छोड़कर ही की जा सकती है। स्वयं बुद्ध और महावीर ने गृहस्थ आश्रम का ही त्याग नहीं किया था बल्कि राज्य और समाज की ज़िम्मेदारी को भी छोड़ा था। बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण सबको पता ही है परन्तु महावीर ने भी ऐसा ही किया था। वे दोनों ही क्षत्रिय कुल के थे और राज-परिवारों में जन्मे थे और समाज तथा राज्य का पालन करना उनका जन्मजात उत्तरदायित्व था। यही नहीं, उन्होंने विवाह भी किया था और उनकी संतानें भी थीं। परन्तु इन सब धर्मों का त्याग कर सत्य की खोज में उन्होंने गृहस्थ, समाज व परिवार इन तीनों का त्याग किया और इसी प्रकार उन्होंने ऐसी परम्परा को जन्म दिया जिसमें यह सहज स्वीकृत था कि चरम सत्य की खोज इन सब को छोड़कर ही की जा सकती है। इसके विपरीत वैदिक-परम्परा में ऐसी कोई परिपाटी नहीं थी। यह ठीक है कि याज्ञवल्क्य ने अपनी दो स्त्रियों मैत्रेयी और कात्यायिनी से यह कहा था कि अब वे संसार छोड़ना चाहते हैं और इसलिए वे अपनी सब चीज़ों का उन दोनों के बीच बँटवारा करना चाहते हैं, परन्तु गृहस्थाश्रम का यह त्याग किस सत्य की प्राप्ति के लिए था? क्योंकि उनको तो सत्य का ज्ञान पहले ही हो चुका था और उपनिषद् की कथा के अनुसार तो उन्होंने मैत्रेयी को यह ज्ञान प्रदान किया था, क्योंकि उसने उनसे उस ज्ञान को माँगा था जिससे अमृत की प्राप्ति हो।

यद्यपि बुद्ध और महावीर दोनों एक ही समय में हुए थे, महावीर बुद्ध से कुछ बड़े थे और दोनों ने ही वेद-विरुद्ध परम्पराओं का आरम्भ किया था। लेकिन उन दोनों में भी बहुत गहरा मतभेद था। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि दोनों एक ही समय में हुए थे और करीब-करीब एक ही देश में अपने-अपने मतों का प्रचार करने के लिए घूमते थे, परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं मिलता कि उन्होंने आपस में कभी कोई अपेक्षा की हो। हाँ, उनके शिष्यों में परस्पर वार्तालाप की बात तो आती है पर वह एक दूसरे के समुदाय की निन्दापरक ही मिलती है। यही नहीं, बुद्ध तो महावीर के प्रति अनेक बार अवज्ञासूचक वचन भी कहते हैं और ऐसा भी कहते हैं कि पिछले अनेक जन्मों में उसने उनका विरोध किया था। इसके विपरीत, कम से कम जो कथाएँ उपलब्ध हैं उनमें, महावीर ने कभी बुद्ध के बारे में कुछ कहा हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तो यह है कि यद्यपि दोनों ने संस्कृत भाषा को त्याग कर आम लोगों की बोलचाल में आने वाली भाषा का प्रयोग किया था पर दोनों के वचन आज जिन भाषाओं में उपलब्ध हैं वे अलग-अलग हैं। बुद्ध-वचन पाली भाषा में मिलते हैं जबकि महावीर के वचन प्राकृत में पाये जाते हैं। इस भेद के लिए कोई ऐसा समाधान नहीं मिलता जो बुद्धि को सहज रूप में स्वीकार हो। यही नहीं, उन्होंने जो उपदेश दिये थे उनमें भी गहरा भेद प्रतीत होता है। बुद्ध ने किसी भी तत्त्व की सत्ता का खण्डन किया था और अवयवी के रूप में दिखने वाली वस्तु की अखंडता को यह कहकर अस्वीकार किया था कि वह वास्तव में अवयवों की संघात मात्र होती है और उसमें जो एकत्व दिखाई देता है वह वास्तव में हमारी कल्पना का आरोप होता है। वास्तव में अगर सोचें तो साधारण अनुभव की बात है कि अगर किसी भी चीज़ को स्वयं उसके अपने ऊपर छोड़ दिया जाय तो वह धीरे-धीरे खण्ड-खण्ड रूप में नष्ट हो जाती है और फिर उसका ऐसे विलय हो जाता है जिसके बारे में यह कहना कठिन होता है कि वह क्या है। उसका कोई रूप ही नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत महावीर ने द्रव्य और पर्याय का भेद किया और देश-काल को भी द्रव्य मानकर केवल पर्यायों में ही परिवर्तन माना। एक प्रकार से वैदिक चिन्तन की धारा में द्रव्य अर्थात् चरम सत् की प्रधानता है, परन्तु उसमें उस सत् के स्थायित्व में और उसके विभिन्न धर्मों में होने वाले परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई है, जबकि महावीर ने द्रव्य और पर्याय में सम्बन्ध कुछ इस प्रकार से माना प्रतीत होता है कि द्रव्य बिना पर्याय के हो ही नहीं सकते। इसमें एक समस्या तो यह है कि क्या द्रव्य का ज्ञान पर्यायों के बग़ैर हो सकता है? कहने का अर्थ यह है कि द्रव्य को जानना एक प्रकार से उसके पर्यायों को ही जानना है और उसकी मान्यता केवल इस बात पर है कि पर्यायों का आधार उनमें स्वयं में न मानकर हमें किसी अन्य वस्तु में मानना पड़ता है। पर इस 'मानने' की ज़रूरत क्या है, इस पर लगता है कि जैन दर्शन में महावीर ने कोई विचार नहीं किया और ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध ने यह कहा कि आख़िर जिसका ज्ञान हो ही नहीं सकता उसको आधार रूप में मानने के लिए औचित्य क्या है?

कुछ-कुछ ऐसी ही बात पश्चिमी दर्शन में 'लॉक' और 'बर्कले', जो इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध दार्शनिक थे, उनके बीच हुई थी। लॉक ने द्रव्य को गुणों के आधार के रूप में स्वीकार किया था और यह कहा था कि वह स्वयं में क्या है इसके बारे में हम कुछ भी नहीं जान सकते, क्योंकि 'जानने' का अर्थ किसी गुण विशेष को जानना ही होता है। पर हालांकि हम उसको सिद्धान्ततः अभी जान नहीं सकते पर फिर भी हमको उसे गुणों के आधार के रूप में मानने की आवश्यकता प्रतीत होती है और इसी अनिवार्यता के आधार पर हम एक ऐसे जड़ द्रव्य की कल्पना करते हैं जिसमें वे सब गुण विद्यमान हों जो चेतना में नहीं पाये जाते, और इसी प्रकार एक ऐसे आत्म द्रव्य को स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस होती है जिसमें वे सब गुण विद्यमान हों जो सहज रूप में हमें चेतनापरक वस्तु के गुण प्रतीत होते हैं, यानि जिनको हम कभी भी किसी जड़ वस्तु का गुण नहीं मान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकते। पर बर्कले ने इसके विरोध में कहा था कि हमको ऐसे जड़ द्रव्य को मानने की आवश्यकता क्यों महसूस होती है जिसका कभी कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता और उसने इस अनिवार्यता को अस्वीकारा, पर फिर भी उसने चेतन द्रव्य को तो माना ही, और शायद उसने ऐसा इसलिए किया कि 'आत्मा' की स्वचेतना अवश्य सहज रूप में होती है। परन्तु बर्कले के बाद आने वाले प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने इस अनिवार्यता को भी अस्वीकार किया और कहा कि जब कभी भी मैं अपनी चेतना का निरीक्षण करता हूँ तब मुझे वहाँ कोई 'गुण' ही प्राप्त होता है, न कि कोई आत्म द्रव्य। इसलिए वास्तव में जो सत् है वह तो केवल चेतना का प्रवाह मात्र है जिसमें अनेकानेक गुणों का अनुभव होता है। इसके बहुत बाद में एक आधुनिक प्रसिद्ध दार्शनिक, जिनका नाम बर्ट्रेण्ड रसल था, उन्होंने ह्यूम के इसी मत का परिष्कार करके एक नया रूप दिया और यह कहा कि जो अनुभूत है वह तो केवल गुण मात्र ही है, परन्तु उससे हम दो विभिन्न द्रव्य-जगतों की सृष्टि करते हैं जो एक ओर जड़ जगत् के नाम से जाना जाता है और दूसरा चेतन जगत् के नाम से। उनका कहने का अभिप्राय यह था कि चाहे जड़ की बात हो या चेतन की वास्तव में तो हम उसकी सत्यता की पहचान इसी आधार पर करते हैं कि वह हमारे सत् अनुभव जगत् में किस प्रकार रूपान्तरित होकर अनुभूत होती है। यह सत् अनुभूत जगत् उनके अनुसार न चेतन ही कहा जा सकता है और न जड़, परन्तु इसके आधार पर ही हम दो जगतों की सृष्टि करते हैं जिनके स्थायित्व-अस्थायित्व की परख इसी कसौटी पर होती है।[1]

रसल के इस सिद्धान्त का आधुनिक दर्शन पर बहुत अधिक प्रभाव हुआ और इसके मूल में उनकी यह दृष्टि थी कि वास्तव में जिसको हम वस्तु के रूप में मानते हैं वह एक शुद्ध 'तार्किक संरचना' होती है, हालांकि हम उसको इस रूप में अधिकांशतः नहीं देखते। प्रत्यक्ष जगत् में दिखायी देने वाली वस्तु भी उनके अनुसार अगर ध्यान से देखें तो 'तार्किक संरचना' ही दिखाई देगी, क्योंकि उसके होने का अर्थ यह होता है कि हमें कुछ सहज इन्द्रिय संवेद्य अनुभव प्राप्त हो। यह बात इससे सिद्ध होती प्रतीत होती है कि कोई व्यक्ति जो जन्म से अंधा हो उसको यदि दृष्टि मिल जाय तो वह संसार को उस रूप में नहीं देखता जिस रूप में हम देखते हैं, उसके लिए मेज़, कुर्सी, पेड़, आकाश आदि ऐसे नहीं होते जैसे हमें दिखाई देते हैं और उसके लिए इस तरह से 'देखना' उसी तरह से 'सीखना' होता है जैसे कोई बालक भाषा को सीखता है।

पर हमारा यहाँ इरादा रसल को या पश्चिमी दर्शन में इस संदर्भ में जो विचार हुआ है उसको समझने का नहीं है। हम तो भगवान बुद्ध की दृष्टि को समझने की चेष्टा कर रहे थे और उनका इस विषय में महावीर से जो भेद था उसको भी समझने की। द्रव्य को स्वीकार करना, चाहे वह जड़ हो या चेतन, और उसको माने बग़ैर अनुभव को समझने की चेष्टा ये दो विरुद्ध दृष्टियाँ भारतीय परम्परा में जैन और बौद्ध दर्शनों के साथ प्रारम्भ

1. इस मत का मूल प्रतिपादक विलियम जेम्स था जिसे उसने 'न्यूट्रल मॉनिज्म' (तटस्थ एकतत्त्ववाद) नाम दिया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से ही जुड़ी हुई हैं। हालांकि जैसाकि हम बाद में देखेंगे, यह भेद केवल उन्हीं के चिन्तन में नहीं पाया जाता, वह और जगह भी मिलता है। बुद्ध ने जहाँ एक ओर किसी अवयवी के संघात मात्र होने की बात कही वहां इस बात की भी चर्चा की कि वास्तव में हर अवयव एक अवयवी ही है और इसे विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर विश्लेषण समाप्त कैसे होगा यह कहना कठिन है। इसके अलावा एक और बात जिसकी ओर ध्यान दिलाया था वह यह है कि अवयव भी अपने-आप में कोई स्थायित्व लिए नहीं होते, वे भी एक सतत प्रवाह मात्र होते हैं जहाँ एक क्षणिक सत्ता दूसरी क्षणिक सत्ता से अनुगत होती है। उसमें स्थायित्व उसी प्रकार भ्रम मात्र है जिस प्रकार किसी वस्तु को विभिन्न खण्डों का संघात न देखकर उसको अपने ही रूप में देखना और उसको अखण्ड मानना। वास्तव में तो वह खण्ड-खण्ड ही है। जैसे खण्ड को समग्र के रूप में देखने में भ्रान्ति है उसी तरह उसे काल में भी स्थायी देखने में भ्रांति है और हमारा जो वस्तुओं से रागात्मक सम्बन्ध उत्पन्न होता है वह इस भ्रान्ति के कारण ही होता है कि हम उनमें एक स्थायित्व, नित्यता और आत्मा को आरोपित करते हैं। पर हमारी यह कोशिश भी अंत में नाकाम ही साबित होती है, क्योंकि जो यह कोशिश करता है और जिसके लिए यह कोशिश की जा रही है वे दोनों नष्ट हो जाते हैं। इतिहास यही बताता है व अनुभव भी यही बताता है। पर इस सत्य के आधार पर जीवन कैसे जिया जा सकता है?

इसके अलावा बुद्ध और महावीर ने दार्शनिक प्रश्नों के बारे में जो दृष्टिकोण अपनाये थे वे भी महत्त्व रखते हैं, क्योंकि जहाँ एक ओर बुद्ध ने दार्शनिक प्रश्नों की जीवन की मूल समस्याओं के संदर्भ में प्रासंगिकता की बात की वहां दूसरी ओर दार्शनिक को मानव की मूलभूत समस्याओं का निवारण करने वाले के रूप में देखा, जो आधुनिक दर्शन की परम्परा में विट्गेन्स्टाईन और लेज़रविट्स आदि जैसे आधुनिक पश्चिमी दार्शनिकों ने भी एक दूसरे संदर्भ में देखा। उन्होंने दर्शन को एक भाषाजन्य बीमारी के रूप में देखा और दार्शनिक का काम उस बीमारी में फँसे लोगों को उससे मुक्त कराना बताया, जो आज एक प्रतिष्ठित दार्शनिक मत है। एक तरह से बुद्ध ने भी यही कहने की चेष्टा की थी कि मूलभूत दार्शनिक प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है, इसलिए उनके बारे में चिन्तन बेकार है। वे केवल मनुष्य का ध्यान उसकी मूलभूत समस्याओं से हटाते हैं और उनका निराकरण करने के मार्ग में उसके लिए बाधा के रूप में ही उपस्थित होते हैं। इसी से बौद्ध लोग बुद्ध को महाभिषक् कहते हैं। इसका अर्थ यही है कि वे महावैद्य, डॉक्टर के भी डॉक्टर, हैं। अंग्रेज़ी में इस दृष्टिकोण से दर्शन को देखने को थैरेपी या रोग-निदान और रोग-उपचार कहा जाता है। दूसरी ओर महावीर ने दर्शन को ऐकान्तिक दृष्टियों का समूह बताकर यह कहने की चेष्टा की कि ऐकान्तिक दृष्टि ही सब भ्रमों का मूल कारण है और मनुष्य जो आपस में झगड़ते रहते हैं वह इसी कारण से कि वे सत्य को ऐकान्तिक रूप में ही देखते हैं, अनैकान्तिक रूप में नहीं। आज के दार्शनिक माहौल में यह बात ठीक इस तरह तो प्रचलित नहीं है, परन्तु इससे मिलता-जुलता ही उसने एक दूसरा रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धारण किया है। आज अनेक दार्शनिक लोगों का यह मत है कि वास्तव में वस्तुओं का अपना कोई सत्त्व नहीं होता। इसलिए यह कहना कि वस्तु ऐसी ही है, किसी अन्य प्रकार की नहीं, भ्रान्ति-जनक होता है। भ्रांतिवश हम यह मानते हैं कि वस्तु का वास्तव में एक ही रूप है। दूसरी ओर आज यह भी काफी हद तक कहा जाता है कि हमें परिप्रेक्ष्य की ओर ध्यान देना चाहिए। कोई बात किसी संदर्भ विशेष में ही सत्य या असत्य होती है, इसलिए बात का संदर्भ जाने बिना न तो बात सत्य कही जा सकती है न झूठ। इस तरह की बात बहुत कुछ महावीर की दृष्टि से मेल खाती है। एक तरह से देखें तो बुद्ध का यह कहना कि वस्तुओं का कोई स्वरूप नहीं होता इससे यह बात भी सच होती दिखाई देती है कि अगर ऐसा है तो उसके बारे में एक ही बात सच हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर यह ठीक होने पर भी परम्परा में बौद्ध और जैन दृष्टियों में बहुत मौलिक भेद माना गया है और उनमें जो साम्य था या जो साम्य उत्पन्न हो सकता था उसको देखा नहीं गया है।

वैदिक दर्शन-परम्परा

बौद्ध और जैन धर्मों के उदय के बाद भारतीय दर्शन विभिन्न धाराओं में बँटता दिखायी देता है। एक वे जो प्रधानतः वेद-परम्परा में उत्पन्न हुई और दूसरी वे जो बौद्ध और जैन परम्पराओं में चलीं। स्वयं बौद्ध और जैन ग्रन्थों में अनेक अन्य दार्शनिक परम्पराओं का वर्णन है जो बुद्ध और महावीर के समकालीन दार्शनिकों से सम्बद्ध मानी जाती थीं। इनमें शायद सबसे प्रसिद्ध नाम मक्खलि घोशाल का है, लेकिन इसके अलावा भी अन्य बहुत से नाम हैं। दूसरी ओर वैदिक परंम्परा में भी अनेक ऋषियों के नाम आते हैं जिनमें शायद सबसे प्रसिद्ध नाम याज्ञवल्क्य का है जिसके अनेक संवाद बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित हैं। जनक की सभा में इनके शास्त्रार्थ और मैत्रेयी से संवाद एक प्रकार से उपनिषद् में वर्णित दार्शनिक चिन्तन के दृष्टान्त माने जाते हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त भी उपनिषदों में अनेक स्थल हैं जो दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये प्रधानतः **छान्दोग्य** और **बृहदारण्यक उपनिषदों** में मिलते हैं। इनके अलावा **केन, कठ** आदि अन्य उपनिषदों में भी इनकी चर्चा है लेकिन ये प्रधानतः दर्शन की उस धारा को ही जन्म देते हैं जो वेदान्त के नाम से जानी जाती है और जिसका मूल स्रोत उपनिषदों की उन कथाओं में ही प्रधानतः पाया जाता है। इसको वेदान्त नाम देने में शायद एक मूल भ्रान्ति यह रही है कि 'उपनिषद्' नाम से जाने जाने वाले ग्रन्थ वास्तव में 'वैदिक' साहित्य का अंतिम भाग हैं, जो जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, वास्तव में सच नहीं है। दूसरी ओर इसका अर्थ यह भी लगाया जाता है कि वेदान्त नाम से जाने जाने वाले दर्शन ही वेद के असली सार हैं, जो तभी ठीक माना जा सकता है यदि हम वेद का अर्थ बताने वाली दूसरी परम्पराओं को, जो यज्ञ और कर्म-प्रधान हैं, उनको विल्कुल भुला दें। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ यह भी दिया जाता है कि यह वेदों का वह अंग था जो व्यक्ति को उसका अध्ययन-काल समाप्त होने पर पढ़ाया जाता था। पर ऐसा भी सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि अध्ययन समाप्त होने पर तो व्यक्ति अपने घर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वापिस लौटता है और गृहस्थाश्रम में प्रवेश की तैयारी करता है। अगर ऐसा है तो वेदांत कहे जाने वाला दर्शन उसके कोई विशेष काम का नहीं हो सकता। पर कुछ भी हो, इसमें तो कोई शक नहीं है कि उपनिषदों में जिस दर्शन की चर्चा है वह भारतीय दर्शन के स्रोतों में एक स्रोत अवश्य रहा है और ज़िस प्रकार **मीमांसासूत्रों** में वैदिक परम्परा को एक प्रकार का अर्थ देने की चेष्टा की गई उसी प्रकार **ब्रह्मसूत्रों** में उपनिषदों में व्याप्त दृष्टि को एक सुनिश्चित सशक्त रूप देने की चेष्टा हुई। इसलिए यह ज़रूर कहा जा सकता है कि वैदिक परम्परा से निकलने वाली ये दो प्रधान दार्शनिक धाराएँ हैं—एक जो **मीमांसासूत्र** में आबद्ध है और दूसरी **ब्रह्मसूत्र** में। लेकिन ये दो धाराएँ एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं और विरोधी भी, हालांकि आज के बहुत सारे विद्वानों ने इनके विरोध को नकारने की कोशिश की है। **मीमांसा** और **ब्रह्मसूत्र** के आपसी विरोधों की चर्चा हम बाद में करेंगे लेकिन कम से कम इतना तो स्पष्ट होना चाहिए कि दर्शन की अन्य धाराएँ, जो बौद्ध और जैन परम्पराओं से भिन्न हैं, वे वैदिक परम्परा में कम से कम उस प्रकार से नहीं रखी जा सकतीं जिस प्रकार से उन परम्पराओं को सहज रूप में देखा जा सकता है जो **मीमांसासूत्र** और **ब्रह्मसूत्र** से प्रभावित होती हैं। गौतम का **न्यायसूत्र**, कणाद का **वैशेषिकसूत्र**, पतंजलि का **योगसूत्र** और **साँख्य** का सृष्टि-तंत्र उस प्रकार से वैदिक परम्परा से निकले हुए नहीं कहे जा सकते जिस प्रकार **मीमांसासूत्र** या **ब्रह्मसूत्र**।

कणाद का **वैशेषिकसूत्र** दार्शनिक सूत्रों की परम्परा में **मीमांसासूत्र** और **ब्रह्मसूत्र** के बाद लिखा हुआ माना जाता है और अधिकतर उसको लोग वैदिक परम्परा में ही रखते हैं। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि कणाद, जिनको वैशेषिकसूत्रों का रचयिता माना जाता है, वे अपने वैशेषिक सूत्रों का प्रधान विषय वही बताते हैं जो मीमांसासूत्रकार ने मीमांसासूत्रों में बताया है। वहाँ भी धर्म का स्वरूप बतलाने की चेष्टा थी और वैशेषिक सूत्रों का रचयिता भी यह दावा करता है कि वह अपने सूत्रों में धर्म की व्याख्या करेगा और उसका सही स्वरूप बताएगा। पर अगर यह बात ठीक है तो एक तरह से यह मानना होगा कि कणाद को धर्म की जैमिनी की व्याख्या मान्य नहीं थी और उन्होंने उसके विरोध में धर्म की एक स्वतंत्र व्याख्या करने की कोशिश की। क्योंकि यह मानना तो मुश्किल होगा कि कणाद को मीमांसासूत्रों का पता नहीं था। अगर हम यह मान भी लें तो इससे यही नतीजा निकलेगा कि वैदिक कही जाने वाली दार्शनिक परम्पराएँ एक दूसरे के बारे में जानती भी नहीं थीं, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि कणाद न उपनिषदों की व्याख्या कर रहे थे और न वेद के उन अंशों की जो यज्ञ से सम्बन्धित हैं। उनका ग्रन्थ स्वतन्त्र लगता है। पर उसमें एक नई बात ज़रूर परिलक्षित होती है, वह यह कि वे अपने सूत्रों में यह कहने की चेष्टा करते हैं कि धर्म के द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति होगी, या दूसरी तरह से कहें तो धर्म वह है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों प्राप्त होते हैं। मीमांसासूत्र के रचयिता ने ऐसा कोई भी दावा नहीं किया था। उसके लिए तो वेदों में बताए हुए यज्ञ और उनसे मिलने वाले जो विभिन्न फल थे वे ही धर्म का प्रयोजन कहे जा सकते थे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रधानतः उस फल का नाम 'स्वर्ग' था। हालांकि अनेकानेक अन्य फल, जैसे पुत्र, वृष्टि, धन-धान्य, शत्रु-नाश आदि, विशिष्ट यज्ञों से मिलने वाले फल कहे जाते हैं और इन सबको शायद 'अभ्युदय' में शामिल किया जा सकता है। दूसरी ओर ब्रह्मसूत्र के रचयिता ने ऐसा दावा नहीं किया था कि ब्रह्मज्ञान से कुछ प्राप्त होगा। उसने तो केवल यही कहा था कि उसके सूत्र ब्रह्म की जिज्ञासा को शांत करने के लिए हैं, या दूसरे शब्दों में कहें कि अगर किसी को ब्रह्म का स्वरूप जानने की इच्छा है तो उसके सूत्र ब्रह्म के स्वरूप को समझने में उसके सहायक होंगे। 'ब्रह्म को जानने' से क्या मिलेगा, ऐसा उसने कुछ नहीं कहा है पर ऐसा माना जा सकता है कि उसके लिए ब्रह्म का ज्ञान स्वयं साध्य था, साधन नहीं। इस दृष्टि से देखें तो शायद कणाद यह कहना चाहते थे कि धर्म वह है जो उसे वह सब देता है जो मीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र दोनों मनुष्य को दिलवाने का दावा करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार धर्म केवल अभ्युदय ही नहीं देता बल्कि निःश्रेयस् की ओर भी ले जाता है। निःश्रेयस् का अर्थ पूर्णरूपेण वह तो नहीं माना जा सकता जो ब्रह्मज्ञान से लक्षित होता है पर वह कुछ-कुछ वैसा ही है यह शायद किसी को अस्वीकार न हो। पर अगर हम यह मान भी लें कि कणाद अपनी व्याख्या से वह सब देने का दावा करते हैं जो मीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र अलग अलग देने की कोशिश करते हैं तो भी यह तो आश्चर्य की बात होगी कि वे इन सबकी प्राप्ति का साधन कुछ ऐसी बौद्धिक कोटियों के ज्ञान को बताते हैं जिनका न कोई ब्रह्म से नाता है और न यज्ञ से कोई रिश्ता। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय कणाद के ये तत्त्व हैं जिनका ज्ञान उनके अनुसार मनुष्य को धर्म का ज्ञान देता है और वह धर्म मनुष्य को अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों प्राप्त कराता है। यह कैसी बौद्धिक कोटियाँ हैं और इनका ज्ञान कैसे धर्म को उत्पन्न कर सकता है और उससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति कैसे हो सकती है यह एक ऐसा जटिल सवाल है जिसका उत्तर बहुत कम लोगों ने देने की चेष्टा की है। यही नहीं यह भी सब लोग मानते हैं कि कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्रों में शब्द को प्रमाण नहीं माना और अगर यह ठीक है तो फिर उन्होंने वैदिक परम्परा के मूल पर ही आघात किया, क्योंकि वह परम्परा तो वेद को ही प्रमाण मानती थी, फिर चाहे वह ब्रह्म-ज्ञान के लिए हो या यज्ञ-मूलक 'धर्म' के लिए हो। इस प्रकार वैशेषिक सूत्रों के रचयिता को वैदिक परम्परा के साथ जोड़ना उसके साथ अन्याय करना है। वह स्वयं चिन्तक है और अपनी नई बात कहने की चेष्टा करता है। उसे जब तक हम इस रूप में नहीं देखेंगे उसके दार्शनिक विचार को नहीं समझ पायेंगे।

अक्सर माना जाता है कि वैशेषिक सूत्रों के बाद गौतम ने न्यायसूत्रों की रचना की। उनके विषय प्रमाण-प्रमेय आदि हैं। उन्होंने भी यह दावा किया कि इस प्रमाण-प्रमेय-व्यापार का ज्ञान मनुष्य को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कराएगा जिससे उसे निःश्रेयस् की सिद्धि होगी। लगता है कि भारत में कुछ समय कोई ऐसी सांस्कृतिक 'हवा' थी कि सबको अपनी बात मनवाने के लिए यह कहना पड़ता था कि उससे निःश्रेयस्, अपवर्ग या निर्वाण आदि की प्राप्ति होगी, क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं कहते तो लोग उनकी बात भी सुनने को तैयार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं होते। अन्यथा प्रमाण-प्रमेय, संशय, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव आदि के ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति कैसे होगी, यह समझना कठिन है। ऐसा लगता है कि गौतम की भी वही मजबूरी थी जो कणाद ने महसूस की थी। आखिर उनके पहले आने वाले दार्शनिक स्वर्ग, ब्रह्मज्ञान, निर्वाण, सर्वज्ञता आदि दिलाने का वादा करते थे तो फिर ये बेचारे पीछे कैसे रह सकते थे! पर जिस प्रकार कणाद एक अन्य प्रकार के ज्ञान की बात करते हैं जो बौद्धिक कोटियों से सम्बन्धित है उसी प्रकार गौतम मनुष्य की बुद्धि के अन्य आयाम को समझने की चेष्टा करते हैं जो तर्कनिष्ठ है और जो हमेशा यह पूछता है कि जो किसी ने कहा है उसका आधार क्या है? अगर कणाद बुद्धि के स्वरूप का ही वर्णन करने की कोशिश करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर गौतम बुद्धि के व्यापार को समझने की चेष्टा करते हैं। *बुद्धि का स्वरूप और बुद्धि का व्यापार ये दोनों दर्शन की मूलभूत समस्याएँ रही हैं।* परन्तु भारतीय दर्शन-परम्परा ने कणाद और गौतम के प्रयास को इस रूप में नहीं देखा है। इसका कारण यह था कि उन्होंने तो बुद्धि के स्वरूप और व्यापार को समझने की चेष्टा की लेकिन उस कोशिश को अपवर्ग, निःश्रेयस् आदि से जोड़कर देखा और दूसरे, दार्शनिकों का ध्यान अपने मौलिक चिन्तन की ओर से हटा दिया। दूसरी ओर ऐसा भी लगता है कि उनके इस स्वरूप और व्यापार को समझने की कोशिश खुद उस बौद्धिक और सांस्कृतिक परिवेश से प्रभावित थी जिसमें एक ओर ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा थी जो तर्क और बुद्धि से परे था और दूसरी ओर उस यज्ञ-केन्द्रित कर्म की चर्चा थी जिसका आधार वेद माने जाते थे, और तीसरी ओर वे श्रमण-परम्पराएँ थीं जो संसार और उसके समस्त व्यापार को ही त्याग कर परमार्थ को पाने की चेष्टा करती थीं। कणाद ने तो शब्द को प्रमाण नहीं माना था पर ऐसा लगता है कि वैदिक परम्परा का प्रभाव गौतम तक आते आते इतना बढ़ गया था कि उनको शब्द को प्रमाण रूप में मानना पड़ा। पर ऐसा लगता है कि उन्हें यह बात ज़बर्दस्ती ही स्वीकार करनी पड़ी, क्योंकि जहाँ एक ओर उन्होंने शब्द-प्रमाण रूप में वेद को माना है वहीं दूसरी ओर शब्द-प्रमाण के उदाहरण रूप में आयुर्वेद जैसे शास्त्र का भी उल्लेख किया है जो स्पष्टतः उस रूप में प्रमाण नहीं माना जा सकता जिस रूप में मीमांसा या ब्रह्मसूत्रों के रचयिता वेदों को प्रमाण मानते थे। यही नहीं, उन्होंने मीमांसा के विरुद्ध शब्द की अनित्यता को माना और उसकी नित्यता का खण्डन किया, जिस नित्यात्मकता के आधार पर मीमांसा ने वेदों के अपौरुषेयत्व की स्थापना की थी। जो भी हो, इसमें कोई शक नहीं कि कणाद और गौतम ने भारतीय दर्शन में बुद्धि के स्वरूप और बुद्धि के व्यापार की मौलिक गवेषणा प्रारम्भ की।

इसी समय, या गौतम के कुछ ही बाद, प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का काल माना जाता है। नागार्जुन बौद्ध महायान के प्रसिद्ध दार्शनिक ही नहीं थे बल्कि उन्होंने बुद्धि के उस चरम तार्किक विरोध की परम्परा को प्रारम्भ किया जिसमें बुद्धि स्वयं यह पाती है कि वह चरम सत् को जानने में कभी भी सक्षम नहीं हो सकती। कुछ हद तक उपनिषदों ने भी ऐसा कहा था। भगवान् बुद्ध ने तो चरम प्रश्नों पर मौन धारण करके यह संकेत दिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

था कि इनका बुद्धि के द्वारा कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। पर भारतीय परम्परा में नागार्जुन ही ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने स्वयं बौद्धिक युक्ति-तर्क के द्वारा ही यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि बुद्धि ऐसा क्यों नहीं कर सकती।

नागार्जुन और गौतम का आपसी सम्बन्ध क्या था यह कहना कठिन है, उनके काल का निर्धारण ठीक ठीक नहीं मिलता। अगर हम यह मानें कि नागार्जुन गौतम के बाद में हुए थे तो ऐसा लगता है कि उन्होंने गौतम के **प्रमाणसूत्र** की स्थापना के मूल में ही आघात करके यह दिखाने की चेष्टा की कि सारा प्रमाण-व्यापार स्वयं व्याघात से ग्रसित है। दूसरी ओर अगर यह मानें कि गौतम नागार्जुन के बाद में हुए तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने नागार्जुन के विरोध में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रमाण-प्रमेय व्यापार बुद्धि का सार्थक कर्म है और इस व्यापार के द्वारा प्रमेयों की सिद्धि हो सकती है। हम अपने प्रमाण-प्रमेय व्यापार (तर्क) में कोई ग़लती न करें इसके लिए उन्होंने यह विस्तार से बताने की कोशिश की है कि मनुष्य इस व्यापार में क्या ग़लतियाँ करता है और यह भी कि उनसे कैसे बचा जा सकता है।

ऐसा कहा जाता है कि इसी काल में साँख्य दर्शन के प्रथम ग्रन्थ **षष्ठि तंत्र** की रचना हुई। वैसे तो साँख्य सिद्धांत के बहुत से पक्ष पहले भी कई ग्रन्थों में पाये जाते हैं, कुछ लोग तो **छान्दोग्य उपनिषद्** में भी साँख्य की चर्चा पाते हैं, लेकिन सुव्यवस्थित रूप में शायद **षष्ठि तंत्र** से पहले साँख्य का निरूपण नहीं मिलता। **षष्ठि तंत्र** का अर्थ ही यह है कि उसमें 60 तत्त्वों की चर्चा है और गौतम जिन तत्त्वों और पदार्थों की चर्चा करते हैं वह चर्चा उस परिवेश से प्रभावित थी। परन्तु साँख्य के विचार को वैदिक परम्परा में मुश्किल से ही रखा जा सकता है और अधिकतर कोई ऐसा करता भी नहीं है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि साँख्य-परम्परा में सूत्रों की रचना बहुत बाद में हुई और **साँख्यसूत्र** के नाम से जाना जाने वाला ग्रन्थ शायद इसीलिए लिखा गया कि अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के अपने अपेन मूल सूत्र थे। यह ठीक है कि साँख्य से संबंधित योग दर्शन का अपना स्वयं का सूत्र है जो **योगसूत्र** के नाम से जाना जाता है और जिसके रचयिता पतंजलि कहे जाते हैं, लेकिन इन सूत्रों में दर्शन बहुत कम है क्योंकि ये प्रधानतः उस योग की क्रिया से सम्बन्धित हैं जिसके द्वारा चित्त की साधारण वृत्तियों का निरोध करके सत्य का साक्षात्कार किया जाता है। योग के लिए तो प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही बेकार हैं क्योंकि उनसे कोई तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता और जहाँ तक शब्द का सवाल है वह भी केवल इसी रूप में सहायक हो सकता है कि वह मनुष्य को उस ओर प्रवृत्त करे जहाँ चित्त की वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और चेतना अपने में सहज रूप में अवस्थित हो जाती है।

वैदिक परम्परा से निकलने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय इन 6 सम्प्रदायों में ही रखे जाते हैं—मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, साँख्य और योग। पर जैसाकि हमने देखा है, इनमें से केवल दो ही को वैदिक परम्परा का अभिन्न अंग माना जा सकता है। उनमें भी परस्पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गहरा मतभेद है, पर बहुत लोगों ने उस मतभेद को कम करके देखने की चेष्टा की है और यह कहा है कि वास्तव में वे अलग न होकर एक ही मीमांसा के दो अंग हैं। एक पूर्व मीमांसा है और दूसरी उत्तर मीमांसा। एक का सम्बन्ध कर्म से है और दूसरी का ज्ञान से। जहाँ पहली समाप्त होती है वहाँ से दूसरी प्रारम्भ होती है और इस प्रकार वे एक-दूसरे की पूरक हैं विरोधी नहीं। यही नहीं, यह भी कहने की चेष्टा की जाती है कि दोनों को बीच में मिलाने वाला एक देवता-काण्ड या संकर्षण-काण्ड था जिसमें विभिन्न देवताओं की उपासना की विधि बताई गई थी और इस प्रकार वैदिक योग के बाद, जो एक पूर्ण रूपेण बाहरी क्रिया थी, उससे किसी फल की प्राप्ति के लिए देवताओं की उपासना द्वारा चित्त की शुद्धि की जाती थी। उसके बाद मनुष्य ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी होता था। पर यह सब कितना ही रोचक लगे, यह नहीं बता पाता कि अगर ऐसा था तो फिर मीमांसा और वेदान्त में इतना विरोध क्यों हुआ? यही नहीं, एक के लिए जो अर्थवाद है वही दूसरी के लिए वास्तव प्रतिपादितार्थ। मीमांसा और वेदान्त में विरोध यहीं तक सीमित नहीं है, वह तो करीब-करीब हर बात को लेकर है। जो लोग 'उपासना' की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि आचार्य शंकर ने उपासना को कर्म की कोटि में रखा और इस आधार पर उसको ब्रह्म-ज्ञान दिलाने में अक्षम माना। यह ठीक है कि स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में और आरण्यकों में भी यज्ञ का अर्थ ढूँढने की कोशिश है, पर आज भी जब कोई वैदिक यज्ञ करता है तो वह उसको उसी रूप में करता है जैसे याज्ञिक उसे करने को कहते हैं। जो लोग यज्ञ के अन्तर्गत सांकेतिक अर्थ की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि राजसूय और अश्वमेघ जैसे यज्ञ चेतना के आन्तरिक रूप से सम्बन्धित नहीं किये जा सकते। ऐसा ही काफी हद तक दर्श पूर्णमास और ज्योतिष्टोम के बारे में भी सत्य प्रतीत होता है। और अगर ऐसा नहीं होता तो **जैमिनीय मीमांसासूत्र** में विस्तार से यज्ञ की विधियों की चर्चा क्यों की जाती और यह क्यों कहा जाता है कि कौन-सी विधि ठीक है और केवल उस विधि से ही उस विशेष फल की प्राप्ति होगी जिसके लिए यज्ञ किया जाता है?

बी 189-ए, विश्वविद्यालय मार्ग,
बापू नगर, जयपुर-302004

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नायं एकान्ततः विषयः अस्मत्प्रत्यय गोचरत्वात् ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन – वर्ष 13-अंक 1
जनवरी, 1999

उन्मीलन-गोष्ठी

यह गोष्ठी 3 अप्रैल, 1999 को राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में हुई और इस में श्री यशदेव शल्य ने शंकराचार्य के अध्यास-विचार पर लेख पढ़ा। गोष्ठी में शल्यजी के अतिरिक्त निम्नलिखित ने भाग लिया—प्रोफेसर दयाकृष्ण, डॉ॰ नन्दकिशोर शर्मा, डॉ॰ मुकुंद लाठ, डॉ॰ के. एल. शर्मा, डा. सरला कल्ला, डॉ॰ योगेश गुप्ता, डॉ॰ कमलनयन, डॉ॰ शैलजा मायाराम तथा दर्शन विभाग के शोध छात्र। शल्यजी के लेख प्रस्तुत करने के बाद उस पर दया जी, नंदकिशोर जी, मुकुंद जी, डॉ॰ के. एल. शर्मा तथा डॉ॰ योगेश गुप्ता ने टिप्पणियां कीं और शल्यजी ने उनके उत्तर दिये। अनन्तर नंदकिशोर जी और मुकुंद जी ने अपनी टिप्पणियां लिखित रूप में भी दीं जो यहां शल्यजी के उत्तरों के साथ यथावत् दी जा रही हैं।

शल्य जी का लेख

अध्यास

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य के आरम्भ में अध्यास की बात की है। वे कहते हैं—आत्मा और अनात्म : अनात्म अर्थात् देह, इन्द्रिय, अहंकार, चित्त या मनस् आदि : परस्पर नितान्त भिन्न हैं, किन्तु हम इनका भेद नहीं समझकर देह, इन्द्रिय आदि के धर्मों का आत्मा पर आरोप कर अविद्याग्रस्त रहते हैं, जैसे सीपी पर चांदी के धर्मों का आरोप कर उसे चांदी समझते हुए या रस्सी पर सर्प के धर्मों का आरोप कर उसे सर्प समझते हुए रहते हैं। मिथ्या-आरोपजन्य यह भ्रान्ति ही अध्यास है, अथवा कहें भ्रान्तिवश यह आरोप ही अध्यास है। स्वभावतः यहां आपत्ति हो सकती है कि सीपी और चांदी : शुक्ति और रजत : दोनों ही विषय हैं, एक प्रस्तुत और दूसरा पूर्वदृष्ट, किन्तु आत्मा विषय नहीं होकर विषयी है, केवल अनात्म वस्तुएँ ही विषय होती हैं, तब अनात्म के धर्मों का आत्मा पर अध्यास कैसे हो सकता है? शंकर इस आपत्ति को स्वयं पूर्वपक्ष के रूप में उठाकर इसका उत्तर देते हैं कि, प्रथम तो आत्मा नितान्त अविषय नहीं है क्योंकि वह अस्मत्यप्रत्यय-रूप में विषय भी होता है, दूसरे, अध्यास के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि दोनों पक्ष विषय ही हों, जैसे आकाश विषय नहीं होता किन्तु उस पर हम नील-तलत्व का आरोप करते हैं। इसी प्रकार हम अविषय आत्मा पर भी विषयस्वरूप अनात्म-धर्मों का आरोप करते हैं।

यहां थोड़ा ध्यान से देखने पर कुछ कठिनाइयां स्पष्ट दिखायी देती हैं। प्रथम कठिनाई आत्मा को अस्मत्प्रत्यय-गोचर कहने में है, क्योंकि शंकर के अनुसार आत्मा अस्मत्प्रत्यय-गोचर हो ही नहीं सकता। क्योंकि अस्मत्त्व तो विषय-धर्म होने से स्वयं आत्मा पर भ्रान्त आरोप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है और इस प्रकार वह आध्यासिक है।* बौद्धों ने शंकर से बहुत पहले यह बात समझ ली थी और इसी से आत्मा का निषेध किया था। इसलिए रज्जु-सर्प-अध्यास का उदाहरण यहां नहीं चल सकता। अब, जहां तक आकाश पर नील-तलत्व के आरोप का प्रश्न है, इसमें यह द्रष्टव्य है कि नील-तलता हमें भ्रान्तिवश दिखायी नहीं देती, वह वास्तव में ही दिखायी देती है, इसलिए यह जान लेने पर भी कि ये आकाश के धर्म नहीं हैं, ये हमें उसी प्रकार दिखायी देते रहते हैं। ऐसे ही दूसरे उदाहरण 'पानी में खड़ी की गई सीधी छड़ी का टेढ़ी दिखायी देना' आदि हो सकते हैं। आत्म-अनात्म-अध्यास में ऐसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त, आत्म-अनात्म-अध्यास में वास्तव में अनात्म-धर्मी-अस्मत् के धर्म या धर्मों का अध्यास अनात्म-धर्मों : आत्मीय, अर्थात् अस्मदीय, रूप में लक्षित धर्मों : पर होता है न कि देह, इन्द्रिय आदि अनात्म धर्मों का आत्मा पर। इस दृष्टि से बौद्धों की और सांख्य की व्याख्याएँ अधिक युक्त हैं जो क्रमशः अविद्या और अविवेक से भव-चक्र का प्रवर्तन मानते हैं और अस्मत्प्रत्ययगोचर आत्म और अनात्म दोनों को अनात्म ही देखते हैं। इस प्रकार शंकर का यह प्रतिपादन उनकी अपनी दृष्टि से कुछ असम्यक् प्रतीत होता है।

इस अध्यास का अर्थ सम्यक्तया समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि आत्मा विषयक यह अध्यास होता क्यों है? इसके लिए आत्मा और अनात्म का स्वरूप समझना आवश्यक है।

शंकर आत्मा को निर्गुण-निर्विकार और विषयी दो प्रकार से निरूपित करते हैं। इनमें 'निर्गुण' पद 'नेति' के समान निषेधात्मक है, ऐसा निषेधात्मक जिसकी निषेधात्मकता का परोक्षतः भी निवारण असम्भव है। किन्तु 'विषयी' पद निषेधात्मक नहीं है। अब, यह विषयी या विषयिता-धर्म क्या है? विषयी की परिभाषा हो सकती है 'जो विषय का अपने से पर-रूप में आक्षेप करता हुआ स्वयं अपरतया प्रकाशित या विदित रहता है।' इस प्रकार 'यह मेज़ है', 'यह मेरा शरीर है,' 'यह मेरा सिर है जिसमें दर्द है', 'यह उसका सिर है जिसमें, उसके कथनानुसार, दर्द नहीं है', 'यह मेरा विचार है, जो सम्भव है युक्त नहीं हो' ये सब विषयता के उदाहरण हैं जिनके विषयी के रूप में मैं इन विषयों का ग्रहण करता हूं और इनके ग्राहक के रूप में आत्मविदित रहता हूं। किन्तु देह, इन्द्रिय, चित्त आदि विषयी भी होते हैं—जैसे उठने, बैठने, आदि का उपक्रम करते हुए मैं दैहिक विषयिता में, सुनते, सूंघते, स्पर्श करते हुए मैं ऐन्द्रिक विषयिता में होता हूं और ऊहापोह करते हुए या विचार करते हुए मैं चैत्त विषयिता में होता हूं। इन विषयिताओं से तादात्म्य में रहते हुए भी हम किसी प्रकार अध्यासग्रस्त या व्यामोहित होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन स्थितियों में हमारी देह, इन्द्रियां आदि हमारी विषयिता की वास्तव अधिष्ठान होती हैं, और

* उल्लेखनीय है कि शंकर ने आत्मा के अस्तित्व की असंदिग्धता के लिए इस अस्मत्प्रत्यय को ही आधार बनाते हुए डेकार्ट के समान ही प्रमाण दिया है—कि 'मैं नहीं हूं' यह निषेध भी मैं के द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार वे अस्मत्प्रत्यय को किसी प्रकार से आत्मा का धर्म मानते कहे भी जा सकते हैं। किन्तु यह उनके सिद्धान्त के विरुद्ध है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जब ये ऐसी अधिष्ठान नहीं होतीं तब ये हमारी उत्तरतर विषयिता की विषय होती हैं और इन दो स्थितियों में हमें भ्रान्ति हुए होने या भ्रांति से उबरने की अनुभूति का बोध नहीं होता। यहां वेदान्त की ओर से यह कहा जा सकता है कि सापेक्ष विषयिता वास्तव विषयिता नहीं होती, वह केवली निरपेक्ष विषयी : शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा : से परिगृहीत विषयिता ही होती है, वास्तव विषयिता केवल निरपेक्ष विषयिता ही होती है और ऐसा विषयी केवल शुद्ध चैतन्य, आत्मा या ब्रह्म ही है। निद्रा को वे ऐसी विषयिता के निकटतम देखते हैं, यद्यपि जागने पर निद्रावस्था भी विषय हो जाती है और इस प्रकार चेतना की निद्राकालीन अवस्था भी केवल क्षीणतम सापेक्ष विषयिता ही सिद्ध होती है। किन्तु यहां महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सापेक्ष विषयिताओं की इन अवस्थाओं में अध्यास जैसी कोई बात नहीं होती क्योंकि वह वास्तविक विषयिता ही होती है, चाहे वह परिगृहीत ही हो, आरोपित विषयिता नहीं होती। मैं सामने आपको देख रहा हूं, या बात कर रहा हूं, इसमें मैं दैहिक, ऐन्द्रिक और चैत्त विषयिताओं में हूं। अब, यदि ये विषयिताएँ मूल विषयी—ब्रह्म या पुरुष—से परिगृहीत भी मानी जायें, जैसा कि सांख्य और वेदान्त कहते हैं, तब भी इसमें भ्रान्ति की कोई बात नहीं होती जैसी रज्जु-सर्प में होती है, क्योंकि इन सब विषयिताओं के साथ ही इनकी विषय-रूप प्रस्तुती भी रहती है, जिसका अर्थ है कि हम इन विषयिताओं को आत्मा-स्थानीय नहीं देखते। यहां द्रष्टव्य है कि 'आत्मा' से यहां अर्थ 'अस्मत् प्रत्यय' से ही है जो स्वयं विषय हो सकता है और इस प्रकार आत्मा-स्थानीय नहीं होता, आत्मा के लिए केवल संकेत बनता है। *इसे चेतना की ज्ञानात्मक वृत्ति कह सकते हैं जिसमें चेतना विषय-विषयिता में अन्तर्विभक्त रहती है और विषयता में बहिर्मुख रह कर भी विषयिता में आत्म-विज्ञप्त भी रहती है।* इसी से जब मैं देखता हूं और फिर सोचता हूं कि देख रहा हूं या देख रहा था, तब मुझे इसका कोई खेद नहीं होता कि मैं आत्म-विस्मृत या अध्यास-ग्रस्त था, क्योंकि इसमें एक तो आत्म-विस्मृति होती ही नहीं, और दूसरे, यदि होती मानी भी जाय तो वह निष्प्रभाव होती है। किन्तु तब भी यह सही है कि हम अनात्म से अध्यस्त रहते हैं और कदाचित् ही यह देख पाते हैं कि अध्यस्त हैं, और जब देख भी पाते हैं तब भी इससे मुक्त नहीं हो पाते, या कदाचित् ही और किंचित् ही मुक्त हो पाते हैं। किन्तु यह आत्म-अनात्म-अध्यास वास्तव में ज्ञान-वृत्तिक नहीं होता, यह भाव-वृत्तिक : हमारे वह होने जो हम नहीं हैं-रूप : होता है, यह हमारी सत्ता में असत् की व्याप्ति-मूलक होता है। इससे उबरने पर, इसका बोध होने पर हम अन्य धर्मी में अन्य धर्म देखने की भूल के ज्ञान जैसा अनुभव नहीं करते बल्कि अपने को अपने से भ्रष्ट, अपने को अपने से न्यून, अपने को अपनी परता के वश : आत्म-परवश : अनुभव करते हैं।

यहां आरम्भ में दो बातें विचारणीय हैं—आत्मा और अनात्म क्या हैं? दूसरे, आत्मा पर अनात्म का या आत्म-धर्मों पर अनात्म-धर्मों का आरोप कब और कैसे होता है?

द्रष्टव्य है कि किसी किसी के जीवन में कभी कोई ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं जो उसे अपने मूल ही में : अपने सम्पूर्ण प्रवर्तनों और अनुसरणों में : अध्यस्त, भ्रमित प्रकट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कर देते हैं : वाल्मीकि, तुलसीदास, महात्मा बुद्ध, सम्राट् अशोक, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द की वास्तव या कल्पित जीवन-कथाएँ कुछ इसी प्रकार की हैं। किन्तु अन्यथा भी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कभी ऐसे क्षण आते हैं—आत्मग्लानि के क्षण, मिथ्यात्व-बोध के क्षण, केवल वे हमें उस गहराई से विचलित नहीं करते जिस गहराई से वाल्मीकि आदि हुए थे। यों स्वाद भोजन अधिक खा कर अपचन का कष्ट पाना ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि यह अध्यास क्या है, किन्तु वैसा होता नहीं है, उसके लिए हमें किसी बड़े आघात की और चेतना में परिपाक की आवश्यकता होती है। मृत्यु-दर्शन भी प्रायः ही यह अवसर उपस्थित करता है, यद्यपि तात्कालिक रूप से, जिसमें हमें अपने अस्तित्व मात्र की तथ्यता सन्देहास्पद प्रतीत होने लगती है। बुद्ध को इसी सन्देह ने इतना उद्विग्न और विचलित कर दिया था कि वह उनके लिए आमूल रूपान्तरण का कारण सिद्ध हुआ। ये सब उदाहरण आत्मा पर अनात्म के आरोप के प्रकट हो जाने के उदाहरण कहे जा सकते हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसे उदाहरण इतने विरल हैं। उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त और भी अनेकानेक ऐसे उदाहरण हो सकते हैं। यों किसी नैतिक स्खलन पर आत्मग्लानि की कचोट तो बहुत लोगों को होती है, यों भी जो कोई जब कभी अपने को अपने पर लौट कर देख पाते हैं तब वे अपने से अपनी परता, अपने से अपनी इतरता और अपने अनुसरणों की अतथ्यता और निरर्थकता देखने से नहीं बच पाते। यह बात दूसरी है कि वे इस दृष्टि में स्थिर नहीं रह पाते। ये सब बोध, ग्लानियां और उद्विग्नताएँ आत्मा की अनात्म-रूपता के दर्शन-जन्य और इस प्रकार अध्यास से उबरने-रूप ही होती हैं। यह अनात्म-दर्शन आत्मा का भी प्रापक होता है यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह उसका उस सीमा तक आभास तो कराता ही है जिस सीमा तक हम उद्विग्न या खिन्न होते हैं। अनात्म की पूर्ण हानि तो जगद्भाव के पूर्ण निवर्तन में ही होती है—जैसी वाल्मीकि, बुद्ध या तुलसी में लक्षित होती है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि जगत् से जो निवृत्ति बुद्ध में लक्षित होती है वह वाल्मीकि और तुलसी में लक्षित नहीं होती, क्योंकि जगद्भाव मात्र में दुःखिता केवल बुद्ध ही देखते हैं, वाल्मीकि और तुलसी नहीं। किन्तु यह सही नहीं है। जगद्भाव से निवृत्ति का अर्थ जगत्परक आसक्तियों से मुक्ति है, उसका अर्थ परोक्षतः जगद्भाव की दुःखिता, अर्थात् निरर्थकता—परता ही होता है, उसका अर्थ *दुःखवाद* नहीं होता। 'वाद' तो आसक्ति का ही एक रूप होता है। तुलसी जब कहते हैं, "जाके प्रिय नहिं राम-वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जदपि परम सनेही" तब यह शब्दान्तर से जगत् की दुःखिता का ही कथन है। दृष्टि के इस स्तर पर वाद-परक पदावली का उपयोग भ्रामक होता है। सो, वास्तव में जगद्भाव ही अनात्म-भाव है और वही अध्यास है; जहां तक यह होता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि ऐसा कहने का क्या औचित्य है? क्योंकि जगत् भी अर्थ-रूप ही है, अर्थों में ही इसकी उत्पत्ति होती है और अर्थों में ही प्रतिष्ठा। अर्थ केवल राम-रावण (आत्म-अनात्म) रूप ही नहीं होते—शांत धवल पर्वतशृंखलाओं का विराट् दर्शन, निर्झर-स्वन या सागर-गर्जन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का भावना की गहराइयों में उन्मीलन, विचारावगाहन या भावानुशीलन, दैन्य-दारिद्र्य से पीड़ित जन की सेवा या अन्याय के विरुद्ध संघर्ष ये सब भी अर्थ-लोक ही हैं। यह सही है। किन्तु ये भी या तो अनात्म-रूप और इस प्रकार आध्यासिक होते हैं या आत्म-रूप और इस प्रकार स्वरूप-प्रकाशक। इनमें कौन अर्थ कब आध्यासिक है और कब स्वरूप-प्रकाशक यह केवल आत्मालोचन से ही जाना जा सकता है। अनात्मपरक सब भ्रांतियों का मूल आसक्ति होती है और आसक्ति का मूल अहंकार। यह अहंकार इतना सूक्ष्म हो सकता है कि हम उसे आत्मा ही माने रहते हैं। कबीर ने 'माया महा ठगिनी हम जानी' पद में 'जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी, काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहु के कौड़ी कानी' आदि के द्वारा यह बहुत ही व्यंजक पदावली में निरूपित किया है। हम भोर में सूर्य-दर्शन, रोगी-जन की परिचर्या या अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में भी अहंकारोपहित हो सकते हैं और दूसरी ओर दुकानदारी और राजनीति में भी निरहंकार और अनासक्त हो सकते हैं। यह केवल सतर्क रहने की बात होती है। 'अजामील, गीध और व्याध के प्रति भगवत्कृपा' की कथा के पीछे यही विवक्षा है।

किन्तु यह सब देखता-समझता कौन है कि हम अनात्मोपहित हैं या नहीं? यह आत्मा ही अपनेको-अपनेसे-अपनेमें देखता है और केवल वही यह देख सकता है। इसे आत्म-प्रमाण कहा जाता है। यह प्रमाण हमें अपनी अन्तर्गुहा के निभृत में प्रवेश करके अपने से ही मिलता है, दूसरा कोई यह प्रमाण हमें नहीं दे सकता। ऐसा नहीं है कि इसमें हमें भ्रांति नहीं हो सकती, अध्यास नहीं हो सकता। अधिकांश में तो हम उस गुहा को जानते ही नहीं, और जो कोई जानने की थोड़ी योग्यता रखते हैं वे भी उस ओर प्रायः ही नहीं लौटते, और जब कभी लौटते भी हैं तब यह पूरी सम्भावना रहती है कि वे उस तक नहीं पहुँच कर आत्मच्छल को ही आत्मा मान बैठें। किन्तु वह आत्मा अनुपलभ्य नहीं है, दुरवगम्य अवश्य है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि अन्तर्गुहावासी यह आत्मा निर्गुण तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निर्गुण-निरंजन साक्षात्कार्य कैसे होगा? वह अपने प्रत्यक्ष का प्रमाण कैसे प्रस्तुत करेगा? और इस प्रमाण के बिना हम अनात्म को पहचानेंगे कैसे? इसका उत्तर होगा कि *आत्मा इसी अर्थ में निर्गुण होता है कि वह नितान्त निभृत में, जहां कोई दूसरा नहीं होता, वहीं रहता है, इस अर्थ में निर्गुण नहीं कि वह लक्षित ही नहीं होता। 'निर्गुण' आदि पद 'प्रमाण-प्रमेय व्यवहार' की पदावली के ही पद हैं।* कबीर के एक पद की प्रथम पंक्ति है—'राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।' किन्तु अंजन के इस पसारे को हम पसारे के रूप में तब तक जानेंगे कैसे जब तक राम का साक्षात्कार नहीं करेंगे? आगम प्रमाण से? किन्तु आगम से बड़ा अंजन क्या होगा? कबीर क्या इस प्रमाण को मान सकते हैं? सत्य का प्रमाण आत्मा का साक्षात्कार ही हो सकता है। वह आत्मा निर्गुण रूप में साक्षात्कार्य नहीं हो सकता, वह तो सत्य अर्थों के उन्मेष के द्वारा ही साक्षात्कार्य हो सकता है। ईशोपनिषद् ने जिसे अर्थों को सत्य देने वाला कवि-मनीषी कहा है वह।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यही ठीक भी है। अर्थ तो आख़िर चेतना से ही हो सकते हैं, और किससे होंगे? ब्रह्मसूत्र ने भी ब्रह्म ही को जगत् का उपादान और निमित्त कारण कहा है, बात केवल इन अर्थों के सत्य की : अपने तथ्य के अनुरूप होने की : होती है जो वे केवल तभी हो सकते हैं यदि आत्मा अपने सत्य में प्रतिष्ठित हो। और यह आत्मा अपने सत्य में तभी प्रतिष्ठित हो सकता है जब अर्थ उसमें अपना सत्त्व और सत्य पायें। किन्तु अपने में यह प्रतिष्ठा पाने के लिए अपना अतिक्रमण आवश्यक होता है। अर्थों के अतिक्रमण के बिना अर्थों में सत्य का सन्निधान नहीं होता क्योंकि चेतना के अतिक्रामी हुए बिना अर्थों को अपने परिष्कार और उन्नयन के लिए खुला आकाश कैसे मिलेगा? यह अतिक्रमणात्मकता मानव मात्र की चेतना में न्यूनाधिक जन्मी रहती है, वही उसमें शिल्पी, गायक और दार्शनिक को प्रकट करती है, वही उसे अनुचित कर्म में कचोटती है। यह अतिक्रमण जिस आत्यन्तिक अतिक्रामी की ओर संकेत करता है उसे आप चाहें तो निर्गुण भी कह सकते हैं, क्योंकि वह अनिवार्यतः अतिक्रामी है और अपनी महिमा में इतना उज्ज्वल और विराट् कि कोई विशेषण, कोई अवच्छेदक, कोई सीमाएँ उसका स्पर्श नहीं कर सकती।* किन्तु सब अर्थों का सत्य भी उसी से हो सकता है, क्योंकि उसके बिना अर्थ अपनी सार्थकता कहां से पायेंगे? इस बात को व्यवहार में देखना हो तो हम मनुष्य के व्यक्तित्व में देख सकते हैं—वही शब्द होते हैं और वही उसकी वाक्यों में रचना, किन्तु एक की शब्द-रचना महत् काव्य बनती है और दूसरे की क्षुद्र काव्य। इन दो में अन्तर आत्म-ज्योति की शुभ्रता-मलिनता का अथवा आत्म-प्रामाण्य की विद्यमानता-अविद्यमानता का ही होता है।

सारांश में, आत्मानात्म-अध्यास रज्जु को सर्प समझने जैसा ज्ञान-वृत्तिक भ्रांति-रूप नहीं होता, देहादि को आत्मा समझने जैसा भ्रांति-रूप भी नहीं होता, वह अध्यास अपने से अपनी निष्कृति-रूप, अपने से अपने प्रवास-रूप होता है।

× × ×

इस लेख-पाठ के बाद दयाजी ने इसके प्रतिपाद्य को सारांश में प्रस्तुत किया और फिर प्रश्न उठाते हुए कहा कि शल्यजी ने अतिक्रामिता की बात की है। 'अतिक्रामिता' की अवधारणा में एक मूल्यात्मकता निहित है। किन्तु प्रस्तुत से, प्रत्यक्ष से अतिक्रामी को, अप्रस्तुत को अधिक मूल्यवान् क्यों माना जाय? एक दूसरी टिप्पणी उन्होंने 'अहंकार' को लेकर की। उनका कहना था कि अहंकार अनिवार्यतः त्याज्य ही नहीं होता। उदाहरणतः अहंकार नहीं हो तो हम अपना हाथ भी नहीं हिला सकते। व्यक्ति के रूप में हम अहंकार के द्वारा ही प्रवृत्त होते हैं। इसलिए अहंकार को अनिवार्यतः अवांछनीय और उसके अतिक्रमण को मूल्यवान् क्यों माना जाय?

---

* यहां यह ध्यातव्य है कि 'अतिक्रामी' पद हमारी विचार-व्यवस्था में किसी लोकोत्तर अस्तित्व का वाचक नहीं होकर अपनी अपने से उत्तर, अपनी पर्येष्य-साध्य अवस्था का वाचक है और 'उज्ज्वल', 'विराट्' आदि पद उत्प्रेक्षात्मक हैं, अभिधात्मक नहीं। एतद्विषयक व्याख्या के लिए द्रष्टव्य हमारी पुस्तकों सत्ताविषयक अन्वीक्षा के अध्याय 2-3 और मूल्यतत्त्व-मीमांसा के अध्याय 1, 10-12.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इनमें प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए शल्यजी ने कहा कि अतिक्रमण का आधार चेतना की प्रत्यङ्मुखता है और चेतना के आत्मचेतन होने मात्र में यह प्रत्यङ्मुखता घटित होती है। इसीमें प्रस्तुत विषय का अतिक्रमण भी घटित होता है और अहंकार का अतिक्रमण भी। उदाहरणतः 'यह घट है' इस कथन में ही प्रस्तुत घट 'घटत्वावच्छिन्न यह' हो जाता है। इसी प्रकार 'मैं देख रहा हूं' या 'मैंने यह कार्य किया' इन वाक्यों में वह अहंकार अतिक्रमित हो जाता है जिसके आधार पर देखने की विशिष्ट क्रिया और करने का विशिष्ट कार्य घटित हुए। अतिक्रमित होकर प्रस्तुत विषय अपार अर्थ-संभावनाओं के आकाश में प्रतिष्ठित हो जाता है और अहंकार निर्धार्य और विवेच्य हो जाता है। जैसे, अनेक प्रकार के घट बनाये जा सकते हैं, घट और घटत्व पर विचार किया जा सकता, उसका व्यंजक चित्र बनाया जा सकता है। इसी प्रकार, अपने को देखने की क्रिया विशेष से, देखने में प्रवृत्ति विशेष से रोका जा सकता है, देखने के औचित्य पर विचार किया जा सकता है आदि।

मुकुन्द जी की टिप्पणी

शल्यजी ने अध्यास पर जो विचार रखे, स्पष्ट और निखरे हुए थे। पर जो बात विशेष थी यह थी कि अध्यास की पुरानी, रूढ़ और यों स्थाणु सी धारणा को उन्होंने अपने चिन्तन में पिरो कर एक नई गति दे दी। आपत्ति हो सकती है कि किसी पुरानी धारणा के परंपरा-लब्ध अर्थ को अपनी तरह से बदल देना कहां तक उचित है? पर यह कोई बात नहीं है, नया विचार नया अभिप्राय लेकर आता है। प्रश्न हो सकता है कि पुराने प्रत्ययों के प्रति उसकी क्या दृष्टि हो? क्या वह केवल उनकी अनुवृत्ति करे, जैसाकि दर्शन के पढ़ाने में, या दर्शन के इतिहास में होता ही है। यही स्थाणु प्रक्रिया है। यह विचार के प्रवाह से हट कर विचार के प्रति एक विचित्र सी निर्विचार तटस्थता है। कोई ज्ञान इससे मिलता भी हो तो भी विचार को तो यह प्रोत्साहन देती नहीं दिखती। आज सम्प्रदायों के बीच वाद नहीं होता जिससे कि विचार का अपना स्वतंत्र प्रवाह बना रहता था। आज तो स्वतन्त्र चिन्तन ही इसको गतिशील रख सकता है, जैसा शल्यजी ने किया है। सराहनीय है कि उन्होंने भारतीय विचार की धरती पर ही ऐसा किया है। नहीं तो हम इस भ्रान्ति से 'अध्यस्त' रहते हैं कि स्वतन्त्रता, और वह भी विचार की, यह तो पश्चिम की आधुनिक परम्परा की थाती है, उसी परम्परा में हो सकती है।

शंकर की अध्यास-धारणा का विवरण देते हुए शल्यजी उसकी विसंगति दिखाते हैं। उनकी युक्तियाँ पैनी हैं और उनसे स्पष्ट है कि शंकर की अध्यास-धारणा में उनके दर्शन के ही भीतर आधारगत समस्याएं हैं। हो सकता है ऐसी युक्तियां शंकर का खंडन करने वालों ने पहले भी दी हों, और अद्वैत पक्ष से उत्तर दिया गया हो, पर युक्तियों का समाधान दिखता नहीं है। पर शल्यजी का तात्पर्य वास्तव में अध्यास के स्वीकृत अर्थ का खंडन नहीं है। शंकर ने जिस उद्देश्य से अध्यास की बात की है उसे एक प्रज्ञा विशेष का प्रकाश कह सकते हैं। शल्यजी की उस प्रज्ञा के प्रति श्रद्धा है, पर दृष्टि उनकी अपनी और अलग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। तभी वे 'अध्यास' पद का स्वीकार करते हुए भी कहते हैं : "यह आत्मा-अनात्म-अध्यास वास्तव में ज्ञान-वृत्तिक होता ही नहीं, यह भाव-वृत्तिक : हमारे वह होने जो हम नहीं हैं - रूप : होता है, यह हमारी सत्ता में असत् की व्याप्ति-मूलक होता है।" 'भाव' से शल्यजी का अर्थ 'भावना' नहीं था जैसाकि शल्य जी ने चर्चा में स्पष्ट किया, उनका अर्थ था 'सत्ता', 'होना'। अध्यास उनकी दृष्टि में ज्ञान-मूलक नहीं सत्ता-मूलक होता है। हम अपने उस होने को आत्म मान लेते हैं जो कि हम वास्तव में हैं नहीं। जब अपने प्रति आँख खुलती है तब आत्मग्लानि जैसे अनुभव में अध्यास के हुए होने का आत्मबोध होता है कि हम वह थे या हैं जो हमें होना नहीं चाहिए।

प्रश्न उठ सकता है कि बोध अगर सत्ता-मूलक है तो उसे अध्यास क्यों कहें, अध्यास तो ज्ञान में होता भ्रम है? यह क्या 'अध्यास' अर्थ को बिल्कुल ही उलट देना नहीं है? हम यहां शल्य जी की ओर से कह सकते हैं कि अध्यास एक गंभीर मार्मिक प्रत्यय है, उसका अर्थ उसके तार्किक स्वरूप तक सीमित नहीं है, और उन्होंने अध्यास के मर्म को अपनी तरह से पकड़ा है। पर प्रश्न फिर भी उठेगा कि उनकी ही विवेचना में अध्यास का जो अपना अर्थ उभरता है उसे कैसे सत्ता-मूलक कह सकते हैं? 'भाव', जिसे उन्होंने 'सत्ता' के अर्थ में लिया है, 'भावना' जैसा ही अर्थ द्योतित करता लगता है। शल्य जी अध्यास की अवस्था को 'आत्म-छलना' जैसा कुछ देख रहे हैं—उस अवस्था का ऐसा वर्णन करते हैं मानो निर्वेद जैसी अवस्था की ओर इंगित हो। स्पष्ट ही 'भाव' या 'सत्ता' का अर्थ भी वे अपनी तरह से लेते हैं।

दूसरी ओर शल्यजी ने एक नई बात कही है और दृष्टि के एक गहरे उन्मेष के साथ कही है कि देह-बोध, इन्द्रिय-बोध, या अस्मद्-बोध आदि की अवस्थायें, जिन्हें आत्मा पर 'अध्यस्त' कहा जाता है, उन्हें अध्यास कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे आत्म-परिगृहीत होती हैं—हमारा आत्मबोध यह जानता रहता है कि हम इन अवस्थाओं में हैं। यह कोई अध्यास या भ्रान्ति नहीं है। सम्यक् बोध ही है। अब जिन्हें शल्यजी अध्यास की अवस्थाएं कहते हैं वे भी ऐसी अवस्थाओं का ही रूप विशेष होती हैं। या यों कहिये कि इन्हीं अवस्थाओं में होती हैं। प्रश्न उठता है कि ऐसी अवस्थाओं की सत्ता में और जिन्हें शल्यजी 'अध्यस्त' कहते हैं उनके 'भाव' या 'सत्ता' में भेद क्या? भेद का आधार क्या? अध्यस्त अवस्था को किसी भी अर्थ में भ्रान्त कहें तो उसे किसी अर्थ में 'नहीं है' यह भी कहना उचित लगता है।

एक प्रश्न और। शल्यजी जिन अवस्थाओं को अध्यास नहीं कह कर आत्म-परिगृहीत कह रहे हैं उन्हें क्या हम आरोप नहीं कह सकते? अध्यास की भ्रान्ति आत्मचेतन नहीं होती, हो तो अध्यास नहीं हो, पर आरोप तो आत्मचेतना का ही व्यापार है—उसे भ्रान्ति नहीं कह सकते। उसमें हम स्वेच्छा से, या किसी अर्थ में जानते बूझते हुए, मिथ्या पर सत्य का आरोप करते हैं—जैसे नाट्य में। यह अर्थान्वेषण का व्यापार भी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नंदकिशोर जी की टिप्पणी

जैसी कि शल्य जी की विशेषता है, जब वे संदर्भ विशेष में भी कोई विमर्श करते हैं तब भी प्रायः वे न तो उस संदर्भ तक सीमित रहते हैं और न ही उसकी आलोचना मात्र तक। वे वास्तव में उसे एक नया संदर्भ, नई दिशा प्रदान करते हैं। इस लेख में भी अध्यास का विवेचन शांकर दर्शन के संदर्भ में प्रारम्भ करते हुए उन्होंने वास्तव में अपनी ही एक दृष्टि प्रस्तुत की है जो समस्या को एक नई दिशा प्रदान करती है।

किन्तु शांकर दर्शन की शल्यजी की आलोचना से पूर्णरूपेण सहमत होना मुझे कठिन लग रहा है। प्रथम, शल्यजी ने कहा है कि चूंकि अस्मत्-प्रत्यय रूप में ज्ञात आत्मा न होकर अहंकार है अतः यह वास्तव में अनात्म के ही एक तत्त्व पर अनात्म के दूसरे तत्त्व का अध्यास है—अनात्म का आत्म पर नहीं। किन्तु यहां यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि क्या शांकर दर्शन में आत्मा सर्वथा अज्ञात है जैसाकि शल्यजी कहते हैं कि है। शंकर स्वप्रकाश-सिद्धान्त को मानते हैं अतः उनके अनुसार आत्मा तो सर्वथा प्रकाशित ही है। दूसरे, जब शल्य जी रज्जु-सर्प तथा तिरछी लकड़ी के उदाहरणों में भेद करते हुए कहते हैं कि दूसरे उदाहरण (तिरछी लकड़ी) में लकड़ी वास्तव में ही तिरछी दिखती है जबकि रज्जु-सर्प भ्रांति में रज्जु वास्तव में सर्प नहीं दिखता, यहां पर 'दिखने' का क्या अर्थ है? एक दृष्टि से तो दोनों वास्तव में ही दिखते हैं तथा दूसरी दृष्टि से न रज्जु सर्प है और न लकड़ी तिरछी, सो यह दूसरा दिखना वास्तव कैसे हुआ? दोनों भ्रमात्मक हैं जिनके कारण विशेष हैं—उन कारणों की निवृत्ति होने पर दोनों अवस्थाओं में प्रमात्मक ज्ञान हो सकता है।

तीसरे, जब आत्मा को विषयिस्वरूप कहा जाता है तब उसका वही अर्थ नहीं है जो सामान्य रूप से समझा जाता है। आत्म-बोध विषय-विषयि-द्वैत से परे है। अतः आत्मा स्वरूपतः किसी विषय का विषयी नहीं है। वह शुद्ध विषयि-स्वरूप है, अद्वैतात्मक है। आप उसे तब विषयी नहीं कहना चाहते हैं न कहें—कुछ भी कहें, किन्तु शंकर का मत यहां स्पष्ट है।

शल्यजी कहते हैं—देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार आदि भी विषयी होते हैं—यह शांकर दर्शन पर तो घोर अन्याय है ही, अन्यथा भी युक्तियुक्त नहीं है। प्रकृति के ये तत्त्व जड़ हैं तथा जड़ कभी भी विषयी नहीं हो सकता। केवल जब इन तत्त्वों पर विषयिरूप आत्म-तत्त्व का आरोप किया जाता है ये विषयी प्रतीत होते हैं। यह वास्तव में अध्यास-प्रक्रिया का ही एक अंग है।

शल्यजी अपने तिरछी लकड़ी वाले उदाहरण की ही तरह कहते हैं कि सापेक्ष विषयिता वास्तविक विषयिता ही होती है। विचित्र बात है। जिस तत्त्व में विषयी होने का स्वभाव ही नहीं है, जो विषयी हो ही नहीं सकता, उसकी विषयिता वास्तविक होती है, भ्रमात्मक नहीं यह बात सर्वथा अग्राह्य है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शल्य जी जब कहते हैं कि व्यावहारिक जीवन में हम इस भ्रांति से मुक्त नहीं हो पाते सो तो ठीक है—जब तक भ्रम रहेगा भ्रम से मुक्ति कैसे होगी—किन्तु आत्मबोध होने पर भी यह स्थिति रहती है, यह शल्यजी कैसे कहते हैं? हां, आप आत्मबोध (पारमार्थिक अर्थ में) नहीं मानें और इस प्रपंच जगत् की ही पारमार्थिकता स्वीकार करें तब बात अलग है। कई वैष्णव संप्रदायों ने जगत् को अध्यास रूप मानने से इन्कार किया ही है।

आगे शल्यजी जो बात कहते हैं उसका केवल यह अर्थ है कि हमारे व्यावहारिक जीवन में भ्रम (अध्यास) होता रहता है तथा उसका निवारण भी होता रहता है—इस प्रकार हम निम्न स्तर के भ्रम से मुक्त होकर उसमें उच्च स्तर पर फिर पुनः उच्चतर स्तर पर चढ़ते रहते हैं। सो इसको कौन मना करता है? किन्तु यह सब अध्यास के क्षेत्र में ही हमारा भ्रमण है। आप इस संदर्भ में 'अध्यास' शब्द का प्रयोग करना चाहें तो चाहे करें किन्तु इस संदर्भ की शंकर के संदर्भ से भिन्नता है। इस संदर्भ से शंकर-दर्शन न ग़लत साबित होता है न अप्रासंगिक।

किन्तु इस नए संदर्भ में शल्यजी क्या प्राप्त करना चाहते हैं? क्या विशेषता है इसकी? सिर्फ यही कि हमारे व्यावहारिक जीवन में हम निरन्तर सीढ़ियां पार कर चढ़ाई करते रहते हैं। सभी क्षेत्रों में हमारा विकास होता रहता है—यह तो कोई खास बात हुई नहीं।

शल्यजी की दृष्टि उन वैष्णव आचार्यों से मिलती जुलती है जो ब्रह्म की निर्गुणता को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार यह जगत्, यह सृष्टि उस ब्रह्म-चैतन्य का स्वरूपतः एक आवश्यक पक्ष है। यह भी एक मत है तथा इसका प्रतिपादन भी विस्तार से भारतीय वाङ्मय में हुआ है। इस मत की अपनी विशेषताएँ हो सकती हैं, किन्तु इसकी कठिनाइयां भी कम नहीं हैं।

शल्यजी के उत्तर

मुकुंदजी

मुकुंदजी ने मेरे प्रतिपादन के मूल अभिनिवेश को बहुत सम्यक् रूप से समझा और सुचारू रूप से प्रस्तुत किया है और अंत में तीन प्रश्न उठाये हैं—

1. अध्यास तो ज्ञान में होने वाले भ्रम को ही कहा जाता है और मैंने उसे सत्तामूलक कहा है।
2. दूसरा प्रश्न उन्होंने देह, इन्द्रिय, चित्त आदिमूलक विषयिता को लेकर उठाया है। यह प्रश्न उन्होंने जिस प्रकार रखा है उससे स्पष्ट है कि मेरा यह प्रतिपादन उन्हें ठीक तरह से संप्रेषित नहीं हुआ है। यह बात और स्पष्ट उनके तीसरे प्रश्न से हो जाती है कि—
3. जिन अवस्थाओं को मैं आत्म-परिगृहीत कह रहा हूं क्या उन्हें आरोप नहीं कहा जा सकता? यहां 'आरोप' से उनका अभिप्राय नाटक के अभिनय में 'अभिनेता में पात्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को देखने' से है जो देखना भेद को जानते हुए किन्तु उस ज्ञान को साभिप्राय स्थगित रखने के रूप में होता है?

अब इन प्रश्नों पर हम क्रमशः विचार करेंगे—

1. मैंने 'ज्ञान-वृत्तिक' शब्द का प्रयोग चेतना की विषय-ज्ञान-रूप वृत्ति के लिए किया है और 'भाव' शब्द का प्रयोग व्यक्ति के 'समग्रता में होने' के अर्थ में किया है। इस 'होने' में हमारा 'दोषों, अपेक्षाओं, अनात्म-बाधाओं के सहित होना' अभिप्रेत है। अब, शंकर ने आत्मा पर अनात्म के अध्यास की बात की है। हमारा कहना यह है कि यह अध्यास हमें हमारे समग्र अस्तित्व में परिव्याप्त करता है, यह भ्रांति हमें हमारे भाव, विचार, आवेग आदि की रचना के मूल में, हमारी अपने और जगत् के प्रति अभिवृत्ति मात्र में निर्धारित और विशेषित करती है, इसे सर्प-रज्जु-भ्रम की उपमा से नहीं समझा जा सकता। तुलसीदास यदि पत्नी के वियोग को सहन नहीं कर नदी पार कर उसके पास पहुँच जाते हैं तो अवश्य इसमें ज्ञान और अज्ञान का ही प्रश्न है—कि विरह-व्यथा किस के वियोग में होनी चाहिए इस विषयक ज्ञान-अज्ञान का—किन्तु यह ज्ञान-अज्ञान रज्जु-सर्प की पहचान के जैसा नहीं है। यह अपने भाव में अभाव के, अपने सत् में असत् के, अपने रूप में पर-रूप के होने का ज्ञान या अज्ञान है।

2. दूसरा प्रश्न मेरे प्रतिपादन को ठीक से नहीं समझने के कारण है। मैंने 'आत्म परिगृहीत' नहीं 'परिगृहीत विषयिता' पद का प्रयोग किया है। 'आत्म परिगृहीत' का अर्थ होगा 'अपने द्वारा परिगृहीत' जबकि 'परिगृहीत विषयिता' का अर्थ है 'वह विषयिता जो अपनी निजी नहीं होकर अन्य से ली गई है।' यह मैंने सांख्य को लक्षित कर कहा है जो प्रकृति को जड़ मानता है और उसमें चेतन व्यवहार को पुरुष का आभास मानता है। ऐसा ही कुछ वेदांत का भी मत है। इसीसे मैंने देहादि की विषयिता को परिगृहीत कहने में 'यदि हम ऐसा भी मानें' पद का प्रयोग किया है। मैंने इस प्रसंग में दो बातें कही हैं—एक यह कि देहादि विषयी भी होते हैं, यद्यपि ये विषय भी होते हैं। वास्तव में जो चेतना आत्मचेतन नहीं है उसमें ये विषयी ही होते हैं, विषय होते ही नहीं। आत्मचेतन चेतना में, इसके विपरीत, सामान्यतः प्रत्येक विषयिता उच्चतर विषयिता की विषय होती है। चेतना का यह रूप ही आत्यंतिक विषयिता की ओर पार्यंतिक कोटि के रूप में संकेत करता है। मैंने इसे 'आत्यंतिक अतिक्रामी' कहा है। दूसरी बात यह कही है कि यदि देहादि की सापेक्ष विषयिता से यह निष्कर्ष भी निकालें कि इनकी विषयिता स्वकीय नहीं परकीय ही है तो भी इस अज्ञान में कोई खेदजनकता जैसी बात नहीं दीखती। कोई जीवन्मुक्त या ब्रह्मज्ञानी होकर भी देह, इन्द्रियों और चित्त के सब व्यवहारों को निरुद्ध नहीं करता। योग को 'चित्त-वृत्ति-निरोध' अवश्य कहा गया है किन्तु इसका अत्यन्त निरोध तो मृत्यु में ही हो सकता है, या वैसा प्रयत्नपूर्वक करके रखा जा सकता है। किन्तु वैसा शंकराचार्य, बुद्ध आदि ने नहीं किया था। वैसा करना वांछनीय है या नहीं, यह दूसरी बात है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

3. तीसरे प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर ऊपर आ गया। जहां तक प्रश्न के दूसरे भाग का सम्बन्ध है, नाट्य में आरोप के दो स्थल कहे जा सकते हैं। एक अभिनेता का और दूसरा दर्शक का। किन्तु हमारे विचार में, अभिनय में भी अभिनेता पात्र का अपने पर आरोप करता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। आत्मचेतन चेतना के लिए अपना व्यक्तित्व भी औपाधिक ही होता है। परिणामतः वह उससे न्यूनाधिक अलग भी हो सकती है और दूसरे व्यक्तित्व में प्रवेश कर सकती है। मानसिक स्तर पर प्रत्येक कहानीकार यही करता है। अभिनेता यह दैहिक स्तर पर भी करता है। इस प्रकार अभिनेता पात्र का अपने पर आरोप नहीं करता, वह केवल एक उपाधि को स्थगित कर दूसरी को धारण करता है। केवल दर्शक अभिनेता पर यह आरोप करता है। किन्तु क्योंकि यह आरोप सप्रयोजन होता है इसलिए इसका अध्यास से कोई सम्बन्ध नहीं होता। बल्कि वह चाहता है कि यह आरोप व्याहत नहीं हो। इस कारण अभिनय की सफलता इसी में मानी जाती है कि दर्शक के लिए वह आरोप कहां तक अव्याहत रहा। दूसरी ओर अभिनेता की अपने आप में सफलता इस बात में होती है कि वह कहां तक अपने व्यक्तित्व की उपाधि को स्थगित कर अन्य व्यक्तित्वोपाधि में प्रवेश कर पाया।

नन्दकिशोर जी

नंदकिशोर जी की आपत्तियां अनेक हैं किन्तु वे उनके वेदांत के पांडित्य के कारण पूर्वग्रह-ग्रस्त हैं।

1. उनकी पहली आपत्ति शंकर द्वारा आत्मा को अस्मत्प्रत्यय-गोचर कहने सम्बन्धी मेरी आलोचना को लेकर है।

नंदकिशोर जी की यह टिप्पणी सारी की सारी ग़लत है। प्रथम, मैंने अस्मत्प्रत्यय को अहंकार नहीं कहा, केवल उसे 'विषय रूप में गोचर' होने से शंकर के अपने सिद्धान्त के अनुसार अनात्म कहा है। मैंने कहा है कि शंकर के अपने सिद्धान्त के अनुसार ही आत्मा अस्मत्प्रयय-गोचर नहीं हो सकता इसलिए उससे उसे 'सर्प-रज्जुवत् अध्यस्त कहना' उनके अपने सिद्धान्त के विरुद्ध है। उल्लेखनीय है कि शंकर को इतनी स्थूल बात का पता नहीं हो ऐसा हो नहीं सकता, इसी कारण वे आगे तुरन्त आकाश पर मलिन तल के आरोप का उदाहरण देते हैं, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि वे न केवल आत्मा के अस्मत्प्रत्यय-गोचर होने की बात सर्प-रज्जु-भ्रम से अनुरूपता दिखाने के लिए करते हैं बल्कि आगे आत्मा के अस्तित्व की असंदिग्धता के लिए युक्ति देते हुए भी आत्मा की इसी प्रत्यय-गोचरता को आधार बनाकर कहते हैं कि "आत्मा पर संदेह करने में भी आत्मा का स्वीकार निहित है क्योंकि संदेह की क्रिया उसके कर्त्ता को आपादित करती है।"

जहां तक शंकर द्वारा आत्मा को अविषयतया ज्ञात मानने का प्रश्न है, मैंने यह नहीं कहा है कि वे आत्मा को ऐसा नहीं मानते। मैंने शंकर का अपना सिद्धान्त पक्ष तो इसी को कहा है : "नितान्त विषयिता में आत्मप्रकाशित आत्मा शुक्ति-रजत-प्रकारेण अध्यस्त कैसे हो सकता है? इस प्रकार अपने सिद्धान्त पर पूर्वपक्ष की ओर से आपत्ति उठाकर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उसके निराकरण के लिए वे कहते हैं कि 'आत्मा अस्मत्प्रत्यय रूप में विषयतया भी गोचर होता है।" उनके इस स्पष्टीकरण के लिए मैंने कहा है कि यह उनके सिद्धान्त से संगत नहीं है। यह सारी बात मेरे लेख में पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

2. अब सीधी छड़ी के पानी में टेढ़ी दिख़ने और रज्जु के सर्प दिखने में भेद की बात। पानी में खड़ी सीधी छड़ी प्रकाश-किरणों के पानी में प्रवेश से वक्र हो जाने के कारण वक्र दिखायी देती है। इस प्रकार छड़ी का वक्र दिखायी देना ठीक वैसा ही है जैसा सीधी दिखायी देना, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में छड़ी से आँखों तक आने वाली किरणों का आकार ही वस्तु के दृष्टिगोचर रूप को निर्धारित करता है। अब, यदि हम वस्तु के वास्तव आकार को दृष्टि-गोचर और स्पर्श-गोचर रूपों के समन्वय द्वारा गम्य नहीं मानें तो मात्र चाक्षुष प्रत्यक्ष के आधार पर छड़ी के पानी के बाहर के और पानी के भीतर के रूपों में एक को छड़ी का वास्तव रूप और दूसरे को भ्रांत रूप कहने के लिए कोई आधार नहीं होगा। उस अवस्था में वास्तव में वे दो भिन्न छड़ियां ही होंगी। रज्जु में सर्प-दर्शन में यह बात नहीं होती, वहां रज्जु किसी प्रत्यक्षमूलक कारण से सर्प दिखायी नहीं देती, मानसिक कारण से दिखायी देती है। इसी से हम यह जान कर भी कि पानी में खड़ी छड़ी वक्र नहीं, सीधी है उसे सीधी नहीं देख सकते, इसके विपरीत 'वह रस्सी है, सांप नहीं', यह जान लेने पर हम रस्सी को सांप नहीं देख सकते, वह हमें रस्सी ही दिखायी दे सकती है। आकाश में तल और वर्ण दिखायी देना भी छड़ी के टेढ़ी दिखायी देने जैसा ही है।

ये आपत्तियां अध्यास-विचार में कोई महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, मैंने इस रूप में ये उठायी भी नहीं हैं। मैंने ये यह दिखाने के लिए उठायी हैं कि ये उपमाएँ या उदाहरण अपने-आप में ही ठीक नहीं हैं इसलिए अध्यास-विचार में इनका उपयोग विशेष सहायक नहीं हो सकता।

3. आगे नंदकिशोर जी ने जो 'तीसरी' टिप्पणी की है वह और भी आश्चर्यजनक है। मैंने शंकर की इस बात को कहां अस्वीकार किया है कि आत्मा नितान्त विषयि है?

4. नंदकिशोर जी की चौथी टिप्पणी हमारे देह, इन्द्रिय आदि की विषयिता के प्रतिपादन को लेकर है। उनकी इस टिप्पणी में कोई युक्ति नहीं है, केवल तोता-रटंत है। इस पर मैंने पीछे मुकुंद जी की एक टिप्पणी के उत्तर में स्पष्टीकरण दिया है, यद्यपि इसके लिए किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं थी।

देह, इन्द्रिय, चित्त आदि को हमारे विषयी कहने के सम्बन्ध में वे कहते हैं "जो विषयी हो ही नहीं सकता उसकी विषयिता वास्तविक होती है कहना सर्वथा अग्राह्य है।" अब, जिस विषयिता को हम जानते हैं वह तो इन्हीं की होती है, निर्गुण ब्रह्म की विषयिता को तो हम जानते नहीं। तब इसे अस्वीकार करने की बात श्रुति-प्रमाण या आगम-प्रमाण के आधार पर दुहरा देने मात्र में तो कोई युक्ति नहीं है। दूसरे, नंदकिशोर जी को यह पता होगा कि योगाचार, सांख्य और वेदान्त के अनुसार भी विषय-विषयिभाव या ग्राह्य-ग्राहक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भाव तो चित्त और बुद्धिमूलक ही होता है, ब्रह्ममूलक नहीं। सो इसमें विषयिता रहती ही है और इस विषयिता का अधिष्ठान देह, इन्द्रिय, चित्त आदि ही होते हैं। अब, मैंने जो बात कही है वह वेदांत और सांख्य आदि के सिद्धान्त को जानते हुए ही कही है, वह विषयिता क्या है यह भी बताया है। उसे वेदांत आदि की युक्ति के परिमार्जन के बिना ही नहीं बल्कि उनकी युक्ति को प्रस्तुत किये बिना भी, केवल उनके निष्कर्ष मात्र को दुहरा कर ही नकार देना प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। उल्लेखनीय है कि मैंने **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** पुस्तक के 'प्रकृति तत्त्व' अध्याय में सांख्य की प्रकृति विषयक अवधारणा पर कुछ विस्तार से विचार किया है।

इसके आगे नंदकिशोर जी ने जो कहा है उसका मेरे अभिप्राय से उतना भी सम्बन्ध नहीं है जितना पहले की टिप्पणियों का है। इसलिए उसका कोई स्पष्टीकरण संभव नहीं है। उस सम्बन्ध में मैं केवल इतना ही कहना चाहूंगा कि अधिकांश में दार्शनिक ब्रह्म, पुरुष, संबोधि, विज्ञप्तिमात्रता, भौतिक द्रव्यमात्रता आदि से अपने दार्शनिक प्रतिपादन का आरम्भ करते हैं। इससे वे या तो हमारे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, काव्य, कला आदिगत अर्थों को दर्शन के क्षेत्र से बाहर ही रखते हैं या इन्हें विकार, विकल्प आदि के रूप में अपचित कर देते हैं। इसके विपरीत मैं इन अर्थों और इनके अन्वेषणों से ही आरम्भ करता हूं और इनके मार्ग से ब्रह्म तक पहुंचने का प्रयत्न करता हूं। इसमें नंदकिशोर जी ने जो वैष्णवों या विशिष्टाद्वैत आदियों से साम्य देखा है उसका भी कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि वे भी परतत्त्व या मूल तत्त्व की ही चिन्ता करते हैं। यदि कहें कि नहीं, वे भक्ति को केन्द्र में रखकर तत्त्व-विवेचन करते हैं और इस प्रकार मेरे प्रतिपादन से उनके प्रतिपादन में साम्य है, तो यह ठीक नहीं होगा। जो इस बात से स्पष्ट है कि मैं एक ओर सभी अर्थों पर विचार करता हूं और दूसरी ओर मूल तत्त्वों का परिसंख्यान नहीं करता हूं। मेरे विचार की निकटता यदि किसी से कही जा सकती है तो वह निर्गुणिये संत कवियों से, विशेषतः कबीर से कही जा सकती है। किन्तु केवल निकटता ही।

शल्यजी के उत्तर के बाद गोष्ठी की अगली बैठक के सम्बन्ध में विचार के बाद यह बैठक समाप्त हुई।

—सरला कल्ला

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन – वर्ष 13-अंक 1
जनवरी, 1999

माइकल डमेट के साथ फ़ाब्रिस पातो एंस्तीत्य दिस्त्वार की भेंट वार्ता[1]

भाषा-चिन्तन, तर्क एवं वैश्लेषिक दर्शन के इतिहास पर यथार्थवाद-विरोधी दृष्टि

(दा सिआँस एत तेक्नीक उनिव्हेरसिते दा पारि)

हिन्दी अनुवाद : विभा चतुर्वेदी और विजय भारद्वाज

1. फ्रेगे और विट्गेन्स्टाइन

फ.प. आप वैश्लेषिक दर्शन की परम्परा के एक ऐसे सुविख्यात दार्शनिक हैं जो परम्परा एक शताब्दी से अधिक वर्ष पहले आरंभ हुई थी। आपने आपना काफी समय फ्रेगे के अध्ययन में लगाया है। वैश्लेषिक दार्शनिकों में इस तरह की बात काफी असाधारण लगती है। लोग इस बात की ज़्यादा चिंता नहीं करते कि किस लेखक ने वास्तव में क्या कहा है। वे प्रायः प्रश्नों का एक प्रकार से सीधा विवेचन करते हैं, अथवा कम से कम उनमें से अधिकांश ऐसा करना चाहते हैं। आपने अपनी पुस्तक **फ्रेगे : फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज** के द्वितीय संस्करण के प्राक्कथन में कहा है कि जब तक फ्रेगे के मत के मूलभूत तत्त्वों पर सहमति नहीं हो जाती तब तक उनके बारे में लाभप्रद विवेचन को स्थगित करना ज़रूरी है।[2] आजकल एक तरह से अधिकतर दर्शन, जिस रूप में यह वैश्लेषिक परम्परा में पाया जाता है, उनके मतों की विवेचना करता है और ऐसा नहीं लगता कि कोई सहमति बन पायी है कि इन मतों की सही व्याख्या क्या हो सकती है, फ्रेगे के दर्शन के अर्थ-निरूपण के नियमों पर सहमति की बात तो एक ओर रही। चलिए, मैं जानबूझ कर एक सरल प्रश्न से शुरुआत करता हूँ—फ्रेगे के संदर्भ में ऐसी क्या विशेषता है? हम इस बात से क्या समझें कि फ्रेगे के मत के मूलभूत तत्त्वों पर कोई सहमति नहीं हो पायी है? उनके बारे में अनेक असहमतियाँ हैं और इसके बावजूद हम वैश्लेषिक दर्शन को फ्रेगे द्वारा उठाये गये प्रश्नों की विवेचना और पुनर्विचार के रूप में देख सकते हैं जो कि उन की उलझनों के समाधान ढूँढने का एक प्रयास है।

---

1. यह वार्ता ऑक्सफोर्ड में 10 नवम्बर, 1992 को हुई। वार्ता को टेप से उद्धृत करते हुए मैंने सन्दर्भित पुस्तकों और लेखकों को फुटनोट्स में देना तय किया ताकि वार्तालाप के सहज प्रवाह में विक्षेप नहीं हो। एतर्थ मैंने पाठ को वार्ता में चर्चित प्रश्नों के अनुसार खण्डों में बाँटा है। कुछ सामग्री मूल पाण्डुलिपि से सम्पादित की गयी है। इंगलिश अनुवाद **फिलॉसफीकल इन्वेस्टीगेशंस्-1911,** जनवरी 1996 में प्रकाशित

2. **फ्रेगे : फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज** डक्वर्थ लन्दन, प्रथम संस्करण, 1973 हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, मास, द्वितीय संस्करण, 1981.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मा.ड. मैं सोचता हूँ कि यह सच ही है, अभी-अभी आपने जो कहा है उसमें काफी सच्चाई है, क्योंकि फ्रेगे प्रश्नों को उस रूप में देखने में सफल रहे हैं कि आज भी हम उन पर प्रतिक्रियां कर सकते हैं। जब आप निवर्तमान दार्शनिकों को पढ़ते हैं तब लगभग सभी के संदर्भ में उनके प्रश्नों पर विवेचन करने से पहले आप को उन प्रश्नों का पुनः निरूपण करना पड़ता है। फ्रेगे ने अपने प्रश्नों को पहले से ही उस रूप में रखा है जो हमारे अनुकूल है। हम अभी तक वहाँ नहीं पहुँचे हैं कि हमें उनका निरूपण भ्रामक लगे। बेशक कुछ ऐसी बातें ज़रूर हैं जिन्हें फ्रेगे ने नहीं देखा अथवा उनकी जानकारी उन्हें नहीं थी, किन्तु आज हम जिनसे अवगत हैं। किन्तु मैं ऐसा मानता हूँ कि दार्शनिक समस्याओं पर चिंतन की अनेकानेक दिशाओं का अध्ययन करने के लिए फ्रेगे एक अत्यधिक अच्छे आरम्भ-बिन्दु हैं। आप जिस चीज़ की बात कर रहे हैं उससे मुझे भी आश्चर्य हुआ था और अभी भी कुछ-कुछ आश्चर्य होता है। जब मैंने फ्रेगे पर अपनी प्रथम पुस्तक लिखी थी मैंने नहीं सोचा था कि उनके तात्पर्य पर बहुत विवाद की गुंजाइश बची है।[3] मैं मानता था कि उस पर काफी चिन्तन की आवश्यकता है—मुख्य रूप से यह निर्धारण करने के लिए नहीं कि उनका तात्पर्य क्या था बल्कि किसी समस्या की गहराई तक जाने के लिए और उसका निहित अर्थ समझने के लिए। और तब अनेक पुस्तकें और लेख इत्यादि पढ़ने पर मुझे हैरानी हुई कि उनके लेखकों ने फ्रेगे की मूलतः नयी व्याख्या सामने रखी है जो मुझे अधिकांशतः ग़लत लगी। किन्तु मैं इस बात को पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं कर सकता हूँ। जिस कथन को आपने उद्धृत किया है वह मेरे विचार से खीझ कर लिखा गया था।

फ.प. कम से कम इतना तो सही है कि वह अपनी बात कहने का काफी हद तक उग्र रूप था।

मा.ड. हाँ, यह सही है और अब मैं उसका समर्थन नहीं करूँगा। निःसंदेह फ्रेगे के सिद्धान्तों पर पूरी सहमति उपलब्ध होने के पूर्व भी हम फ्रेगे का विवेचन कर सकते हैं, परन्तु यह बात बहुत क्षुब्ध करने वाली है। और ऐसा ही हो रहा है। फ्रेगे पर बहुत से लेखन का केवल यही आशय लगता है कि "देखिये, मेरे से पहले आप लोगों ने फ्रेगे को हमेशा ग़लत समझा है।" मेरे विचार से यह मूर्खता है। मुझे बिल्कुल नहीं लगता कि यह सच हो सकता है। बेशक कुछ लोग कुछ ऐसी चीज़ें देख सकते हैं जो कुछ दूसरों ने नहीं देखीं, परन्तु यह धारणा बहुत ठीक नहीं जान पड़ती कि अब तक सभी ने उनका आशय ग़लत समझा है। फिर भी लोग ऐसा कह रहे हैं। मैं नहीं जानता कि ऐसा फ्रेगे के संदर्भ में ही क्यों है? लोग रसल के संदर्भ में ऐसी बात नहीं करते, वे कान्ट के साथ ऐसा नहीं करते। क्या मैं ठीक कह रहा हूँ?

---

3. फ्रेगे : फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज के पश्चात् यह प्रकाशित हुई : द इन्टर्प्रिटेशन ऑफ फ्रेगेज़ फिलॉसफी, डक्वर्थ, लन्दन, 1981, फ्रेगे एण्ड अदर फिलासफर्स, क्लैरेन्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1991, एवं फ्रेगे : फिलॉसफी ऑफ मैथेमेटिक्स, डक्वर्थ, लन्दन, 1991

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फ.प. विट्गेन्स्टाइन के साथ वे ऐसा ही करते हैं, विशेष रूप से विट्गेन्स्टाइन इस तरह की बात को स्वयं प्रोत्साहित करते प्रतीत होते हैं।

मा.ड. यह बिल्कुल सच है, किन्तु जिस ढंग से विट्गेन्स्टाइन ने लिखा है उस कारण वह फ्रेगे से कहीं अधिक दुर्बोध है। उन्होंने अक्सर पाठक को बात समझने के लिए अपने ही सहारे छोड़ दिया है।

फ.प. विट्गेन्स्टाइन की बहुतेरी टिप्पणियों की विभिन्न व्याख्याएँ सम्भव हैं। बहुतेरे वाक्यों और अनुच्छेदों में दी गई टिप्पणियाँ परस्पर असम्बद्ध हैं।

मा.ड. और प्रश्नों के उत्तर नहीं दिये गये हैं, इत्यादि। आपको सोचना पड़ता है कि "यह अनुच्छेद इस स्थान पर क्यों है? उन्होंने इसे इस सन्दर्भ में क्यों रखा?" इसलिए मुझे लगता है कि यह अधिक समझ में आता है कि विट्गेन्स्टाइन की विभिन्न व्याख्याएँ क्यों हैं। मैं यह भी सोचता हूँ कि विट्गेन्स्टाइन को पूरी तरह समझने से हम अभी बहुत दूर हैं। और शायद इस प्रकार के तर्कों से सच्चाई सामने आयेगी। किन्तु मुझे नहीं लगता कि फ्रेगे के सन्दर्भ में इस प्रकार से तर्कों की गुंजाइश है। निस्संदेह फ्रेगे के मतों के मूल्यांकन में तर्कों की गुंजाइश है किन्तु मेरे विचार में यह तो स्पष्ट है कि वे मत क्या हैं!

फ.प. विट्गेन्स्टाइन से सम्बद्ध इस विषय में एक अन्य प्रश्न मेरे सामने आता है। आपने कहा है कि आपने अपना दार्शनिक जीवन अपने आपको विट्गेन्स्टाइन के मत का अनुयायी मानते हुए शुरू किया था, कम से कम 1960 तक।[4] इस सम्बन्ध में तीन प्रश्न हैं—सर्वप्रथम, इस अरसे में विट्गेन्स्टाइन के मत का अनुयायी होने का आपके लिए क्या अर्थ था? दूसरे, क्या आपने जीवन पर्यन्त फ्रेगे का अध्ययन एक विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाते हुए किया जिसे विट्गेंस्टाइनीय दृष्टिकोण कहा जा सकता है? अन्त में, क्या आपने सोचा कि जिसे आपका फ्रेगे पर काम कहा जा सकता है वह यथार्थवाद के विपक्ष में आपके तर्कों के विपरीत है अथवा वह ऐसा प्रयास है जो आपके अपने दृष्टिकोण से बिल्कुल अलग है?

मा.ड. यह स्पष्ट है कि फ्रेगे का अध्ययन मैंने एक दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए प्रारम्भ किया, क्योंकि कोई भी अपनी कुछ पूर्वमान्यताओं के बिना किसी दार्शनिक का अध्ययन नहीं करता। किन्तु निश्चय ही चेतन रूप से नहीं, जिससे कि कोई कह सके कि "अब मैं फ्रेगे को विट्गेन्स्टाइन के दार्शनिक दृष्टिकोण के अधार पर समझने जा रहा हूँ।" या ऐसा ही कुछ। मैंने उसे पृथक् रूप से नहीं देखा और निस्संदेह यह मेरे लिए पृथक् नहीं रहा है। क्योंकि फ्रेगे के प्रश्न बहुत हद तक प्रश्न ही हैं। फ्रेगे के कार्य का अध्ययन मेरे लिए दार्शनिक समस्याओं पर विचार करने की एक तरह से शुरुआत रही है। इसमें

---

4. ट्रुथ एण्ड अदर एनिग्माज़, हार्वार्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, मास, 1978, पृ. xii

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संदेह नहीं कि जब आप किसी लेखक के विषय में लिखते हैं तो काफी विवरण इत्यादि देना होता है और जैसा कि आप जानते हैं, मैंने विशेष रूप से अपनी सर्वप्रथम पुस्तक में उसका अनेकानेक दार्शनिक प्रश्नों पर विवेचन करने के लिए एक मंच के रूप में उपयोग किया है। मेरी पहली पुस्तक में ऐसा बहुत कुछ है जो वस्तुतः फ्रेगे के बारे में नहीं है, केवल उसकी शुरुआत वहीं से हुई है।

फ.प. यह हंस सलूगा की शिकायतों में से एक थी।[5]

मा.ड. हाँ, उनकी एक शिकायत यह भी थी, और मुझे मानना पड़ता है कि उसमें काफी सच्चाई थी, यद्यपि कुछ बातों से मैं सहमत नहीं हूँ। मैं नहीं सोचता कि फ्रेगे के अध्ययन के लिए जिस तरह की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि उन्होंने प्रस्तुत की थी वह बिल्कुल सही थी। किन्तु यह बिल्कुल सच है कि जब मैंने अपनी प्रथम पुस्तक लिखी तो मैं उस परिस्थिति के बारे में ज़्यादा नहीं सोच रहा था जिसमें फ्रेगे स्वयं थे। मैं सोचता हूँ कि यही होना भी चाहिए। मैं उनके काम और उसके पश्चात् जो कुछ हुआ उनके बीच के सम्बन्ध के विषय में अधिक सोच रहा था। मेरे विचार में जब आप किसी दार्शनिक को पढ़ते हैं तो आपको किसी दार्शनिक से पूछना ही होगा कि "उस समय अन्य लोग जिस तरह की बातें कह रहे थे उनको देखते हुए अमुक दार्शनिक समस्या का क्या स्वरूप लगता था।"

फ.प. फ्रेगे एवं विट्गेंस्टाइन की शब्दार्थ के सामाजिक रूप की धारणा शब्दार्थ के प्रयोग की धारणा के रूप में है और फ्रेगे की ज़िन[6] की वस्तुगतता की धारणा में प्रतिबिम्बित होती है। यह फ्रेगे को कुछ हद तक विट्गेंस्टाइन के दृष्टिकोण से समझना नहीं है क्या?

मा.ड. मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता। फ्रेगे के विचारों की सम्प्रेषणीयता पर बहुत ज़ोर दिया गया है और इस बात पर कि वह हम सब में समान है।

फ.प. और यह बात निरूपणों की असम्प्रेषणीयता के बिल्कुल विपरीत है1

मा.ड. ठीक है। किन्तु विट्गेंस्टाइन में आन्तरिक मानसिक जीवन की असंप्रेषणीयता की धारणा का उस प्रकार का खण्डन नहीं है। फ्रेगे के विषय में आप जो कह सकते हैं वह यह है कि उनमें सबको उपलब्ध हो सकने योग्य किसी वस्तु की सम्प्रेषणीयता पर ज़ोर दिया गया है किन्तु इस पर विस्तार से चिन्तन नहीं किया गया है। वे इस बात का विवेचन कतई नहीं करते कि यह कैसे सम्भव है कि हम सभी अपने कथनों से एक-सा ही अर्थ समझते हैं।

---

5. हंस सलूगा : गौट्लौब फ्रेगे, रुटलज एण्ड केगन पॉल, लंदन, 1980

6. द्रष्टव्य — 1. व्हट इज़ थ्योरी ऑफ मीनिंग? 2. ट्रुथ एण्ड मीनिंग — एसेज़ इन सिमेन्टिक्स, जी. इवान्स एण्ड जे मैक्डोवेल, सम्पा. क्लेरेन्डेन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1976, पृ. 135 : "इस प्रकार फ्रेगे का यह सिद्धान्त कि अर्थ वस्तुगत है (शब्दार्थ के उस अंग को जिससे अर्थ बनता है) विट्गेंस्टाइन के इस मत (अथवा मतों के समुदाय में से एक मत जो इस प्रकार से अभिव्यक्त होता है) कि 'शब्दार्थ शब्द-प्रयोग है' को अप्रत्यक्ष रूप से पूर्वाभासित करता है।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फ.प. वे इस बात की भी कोई व्याख्या नहीं करते कि विचारों को ग्रहण करने में क्या निहित है। ऐसा लगता है कि वह ग्रहण करने की क्रिया मात्र है।

मा.ड. ठीक, यह एक तथ्य है।

फ.प. तो क्या आप सोचते हैं कि विट्गेंस्टाइन की धारणा फ्रेगे की अन्तर्दृष्टि को मूर्त्त रूप देने का एक तरीका है?

मा.ड. मेरे विचार में आप निश्चय ही इसे इस ढंग से ले सकते हैं। किन्तु यह निश्चित रूप से कहना बड़ा कठिन है। स्पष्ट है कि वे फ्रेगे से बहुत प्रभावित थे। और जब वे फ्रेगे की प्रत्यक्ष आलोचना करते हैं तो वे प्रायः बहुत ग़लत लगते हैं। इसलिए नहीं कि फ्रेगे हमेशा ठीक हैं और विट्गेंस्टाइन हमेशा ग़लत, किन्तु मात्र इसलिए कि आलोचना करते वक्त विट्गेंस्टाइन अत्यन्त अपरिष्कृत लगते हैं। स्पष्टतः उनका बहुत सा प्रभाव सतह पर प्रकट नहीं होता। वे हमेशा स्पष्ट रूप से फ्रेगे का उल्लेख नहीं करते और न ही वे उनके प्रभाव को स्वीकार करते हैं जो उन्हें करना चाहिए। मैं सोचता हूँ कि कदाचित् उन विचारों की उत्पत्ति फ्रेगे को पढ़ने से हुई लगती है, यद्यपि यह मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता।

फ.प. आपके फ्रेगे के अध्ययन के विषय में एक और बात उल्लेखनीय है और वह है इस बात पर आग्रह कि वाक्यार्थ समझना, अर्थात् वाक्य से व्यक्त विचार को समझना उस वाक्य की सत्यता की शर्तों को जानना है अथवा यह जानना है कि वे पूरी हुई हैं कि नहीं। यदि मैं ग़लत नहीं हूँ तो अपनी इस धारणा का फ्रेगे ने केवल एक ही बार स्पष्ट रूप से समर्थन किया है, विशेष रूप से ग्रुन्डगेज़ेट्स में[7] किन्तु फ्रेगे की इस विशिष्ट धारणा में उनके यथार्थवाद का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। परन्तु यथार्थवाद के विरोध में आपका अपना तर्क निश्चय ही स्पष्ट रूप से शब्दार्थ के इस तथाकथित सत्यतामूलक मत के विरुद्ध है। क्या आप जानते हैं कि वास्तव में यह फ्रेगे की केन्द्रीय समस्या थी?

मा.ड. बिल्कुल। मेरे विचार में यह तर्कशास्त्र में मनोविज्ञान की घुसपैठ के प्रति उनके विरोध से गहरे ढंग से सम्बद्ध है। ज़रा उन बातों पर ध्यान दें जो उन्होंने ग्रुन्डलागेन[8] में मनोविज्ञान मूलक परिभाषाओं के विरुद्ध कही हैं। जब आप किसी मूलभूत गणितीय

---

7. जेना बॉंड पोहल — गोटलौब फ्रेगे, ग्रुन्डगेज़ेट्ज़ डेअर अरिथमाटिक बिग्रिफ शृफ्टलिश अवगेलाटेड, 1893, प्राक्कथन, भूमिका तथा ss 1-52 का एम.फुर्थ द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद : द बेसिक लॉज़ ऑफ अर्थमेटिक : एक्सपोज़िशन ऑफ द सिस्टम, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस, लॉस एंजिलिस, 1964 में उपलब्ध है।

8. फ्रेगें का सम्बद्ध पाठ यह है : "सत्यता-मूल्य का प्रत्येक नाम एक अर्थ, एक विचार को अभिव्यक्त करता है (डुक्ट आइनेन ज़िन, आनेन गेडान्केन ऑउस)। अर्थात् हमारे अपने आदेश में यह नियत होता है कि किन दशाओं (बेडिन गुंगेन) में नाम का निर्देश सत्यता है। इस नाम का अर्थ-विचार यह विचार है कि ये दशाएँ उपलब्ध हैं।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अवधारणा की परिभाषा नहीं दे पाते तब आप जो मानसिक प्रक्रियाएँ उस अवधारणा को समझने के लिए आवश्यक हैं उनके द्वारा उसे परिभाषित करते हैं। इस विषय में उनका कहना है कि आप इस प्रकार की परिभाषा का प्रयोग कुछ भी सिद्ध करने के लिए नहीं कर सकते। मैं मानता हूँ कि यह टिप्पणी प्रत्यक्ष रूप से सत्यता-शर्तों के विषय में नहीं है। किन्तु कुछ सिद्ध करने के लिए ज़रा इस पर ध्यान दें—किसी परिभाषा का प्रयोग आप कब कर सकते हैं? केवल तभी जब वह यह स्पष्ट करती है कि किन दशाओं में कोई वाक्य, जिसमें वह परिभाषित पद प्रयुक्त है, सत्य होगा। यदि वह ऐसा करती है अथवा ऐसा करने में सहायता देती है तो आप उसका प्रयोग यह सिद्ध करने के लिए कि अमुक वाक्य सत्य है, कर सकते हैं। यही कारण है कि यह फ्रेगे के लिए मूलभूत है।

आपने अभी-अभी यथार्थवाद बनाम यथार्थविरोधीवाद के प्रश्न की बात की है। फ्रेगे के विषय में यह बहुत स्पष्ट है कि वे हमेशा अपने आपको यह कहने से बचाते रहे हैं कि सत्यता-शर्तों का सम्बन्ध सत्यता-मूल्य को हमारे जानने-पहचानने के ढंग से है। वे इस सम्बन्ध में प्रायः ही स्पष्ट रूप से सतर्क कर देते हैं। उदाहरणतः जब वे दावा करते हैं कि विधेयों को हमेशा परिभाषित किया जाना चाहिए और किसी वस्तु के विषय में यह भी हमेशा निर्धारित करना चाहिए कि वह वस्तु अवधारणा के अन्तर्गत आती है या नहीं! और वे प्रायः इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि हो सकता है कि हम उसे निर्धारित न कर सकें, यद्यपि वह एक तरह से वस्तुगत रूप से निर्धारित है या यथार्थता उसे निर्धारित करती है, या कुछ ऐसा ही। अतः इसे उस रूप में नकारना जिस रूप में विट्गेंस्टाइन ने इसे वास्तव में लिया होता—हम क्या कर सकते हैं इस अर्थ में—वास्तव में काफी कठिन है।

2. असंगति, समग्रतावाद, सामंजस्य एवं अंतःप्रज्ञावाद

फ.प. मैं फिर से विट्गेंस्टाइन की बात पर आता हूँ। मेरा अगला प्रश्न है, "शब्दों का प्रयोग शब्दार्थ है" इस सर्वप्रसिद्ध उक्ति को किस तरह समझा जाये और इसके दार्शनिक निहितार्थों को कैसे निर्धारित किया जाये?[9] यह एक बड़ी समस्या है और इसका सम्बन्ध पुनः विंट्गेंस्टाइन का अनुसरण करने अथवा न करने की धारणा से है। इस तरह से बहुत से लोग महसूस करते हैं कि इस प्रसिद्ध उक्ति की कोई भी व्याख्या शास्त्रीय तर्कशास्त्र के नियमों के संशोधन की ओर नहीं ले जा सकती है, यद्यपि आपका दावा है कि ऐसा

9. देखिये विट्गेंस्टाइन, फिलॉसफिकल इन्वेस्टीगेशन्स, जी.इ.एम. एन्सकोम द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1958, भाग I 43 'संदर्भों के एक बड़े वर्ग के लिए—यद्यपि सभी के लिए नहीं—जिनमें हम 'शब्दार्थ' शब्द का व्यवहार करते हैं, इसे इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : शब्द का अर्थ भाषा में उसका प्रयोग है। (डी. आइनेस वोर्ट्स इस्ट जाइन ग्रेबाउख इन डेर स्प्राख) साथ ही देखिये फिलासफिकल इन्वेटीगेशन्स भाग IÓÓ 120, 138, .190, 432 और द ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स (वेसिल ब्लैक वैल, ऑक्सफोर्ड) 1958 के शुरू के पृष्ठ भी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होता है। यहाँ मैं उन लोगों की बात नहीं कर रहा हूँ जिनकी केवल यही समस्या है कि विट्गेंस्टाइन ने वास्तव में क्या कहा है। मुझे लगता है कि बहुत से लोग इस बात को नहीं मानना चाहते कि "शब्दों का प्रयोग शब्दार्थ है" जैसी एक सहज धारणा किसी भी प्रकार से इतने कठोर निष्कर्ष की ओर ले जा सकती है। आप ऐसा क्यों सोचते हैं कि ऐसा होता है?

मा.ड. मैं प्रत्युत्तर देने की कोशिश करता हूँ। मूलतः इस कारण कि मैं समग्रतावाद को उस रूप में स्वीकार नहीं करता हूँ जिस प्रकार से मेरी समझ में विट्गेंस्टाइन ने किया था अथवा कम से कम वे उससे प्रतिबद्ध थे। आप विट्गेंस्टाइन के इस सुप्रसिद्ध मत से तो परिचित हैं ही कि दर्शन किसी चीज़ को कतई परिवर्तित नहीं करता, वह केवल वर्णन करता है, इत्यादि... । विशेष रूप से उसकी धारणा थी कि आप शब्द-व्यवहार को बदल नहीं सकते, और उन्होंने अपने आपको इस बेतुके मत में फँसा लिया कि दर्शन शब्द-व्यवहार बदल नहीं सकता चाहे वह असंगत ही क्यों न हो, अथवा उससे विरोध ही क्यों नहीं फलित हो। आपको उस विरोध को एक तथ्य के रूप में मानना ही पड़ेगा।

फ.प. किन्तु हमारा शब्द-व्यवहार निश्चय ही असंगत हो सकता है।

मा.ड. टार्स्की मानते थे कि मूलतः ऐसा ही है।

फ.प. प्रचलित शब्द-व्यवहार प्रायः असंगत होता है।

मा.ड. हाँ, एक तरह से। परन्तु वास्तव में 'प्रचलित शब्द-व्यवहार' का निश्चित रूप से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट है कि यह व्यवहार का अंग नहीं हो सकता कि लोग असंगत कथन ऐसे ही करते हैं। यदि आप यह बताना चाहते हैं कि कोई व्यवहार असंगत है तो आपको यह कहना होगा कि कुछ सामान्य नियम हैं जिनका लोग पालन करते हैं और इस रूप में उन्हें पहचान भी सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे इस बात को पहचान व मान सकते हैं कि वे उन नियमों का पालन करते हैं। यदि हम उन पर ज़ोर डालें तो वे इस बात को भी मान लेंगे कि कौन से नियम असंगतियाँ पैदा करते हैं। मतलब यह है कि हम उन पर ज़ोर डाल सकते हैं कि वे ऐसा करें।

फ.प. तो लोग वास्तव में असंगत कथन करते हैं। क्या यह व्यवहार नहीं है? हम क्यों न ऐसा कहें कि लोग असंगत (शब्द) व्यवहार करते हैं?

मा.ड. आप ऐसा कह सकते हैं। किन्तु तब आपको अपना कथन सीमित करना होगा और यह भी मानना होगा कि वे यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि जो कुछ उन्होंने कहा है उसमें संशोधन की आवश्यकता है। किसी व्यक्ति विशेष के कथनों का आत्मव्याघाती होना तथा उसका अपनी ग़लती एवं उसके स्रोत को पहचानना और समस्त भाषा का अपने में असंगत होना—इन दो बातों में भेद है। इसी बात से टार्स्की को प्राकृतिक भाषाओं के विषय में चिंता थी। इसका मतलब यह हुआ कि किसी भी भाषा के प्रयोग के नियामक सामान्य नियम हैं जिन्हें सभी लोग मानते हैं और वे ऐसे नियम हैं कि यदि ज़ोर दिया जाये तो लोग पहचानेंगे कि उन्हीं से उनके अपने कथनों में असंगति पैदा हुई। विरोधाभास

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऐसे ही होते हैं। जब लोगों के समक्ष विरोधाभास आते हैं तो वे नहीं जानते कि क्या करें, क्योंकि उनके कथनों में असंगति उन्हीं कारणों से पैदा हुई होती है जो उन्हें पूर्णतः अनिवार्य प्रतीत हुए। अतः वे उनसे बिल्कुल दूर भागते हैं। फलस्वरूप तब दार्शनिक लोग उनके विषय में चिंता करने लगते हैं।

समग्रतावाद के विषय में हमारे विवेचन में एक मुख्य मुद्दा यह है : विट्गेंस्टाइन का विचार। मैं इस मत से नितान्त असहमत हूँ कि शब्द-व्यवहार में ऐसा कुछ भी नहीं है, विशेष रूप से अनुमान के विभिन्न प्रकारों के प्रयोग में, जिसे प्रमाणीकरण की आवश्यकता हो अथवा जिस की आलोचना की जा सके। यदि व्यवहार असंगत है तो वह अपने-आप में पर्याप्त प्रमाण है। उसे अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु मेरे विचार में ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि अनुमान के विभिन्न रूपों को शेष भाषा से अलग नहीं किया जा सकता। अनुमान उस खेल की तरह नहीं है, उदाहरणतः क्रासवर्ड पज़ेल की तरह, जिसका असर किसी दूसरी चीज़ पर नहीं पड़ता। अनुमान में प्रकथन और निष्कर्ष होते हैं तथा उन निष्कर्षों में तार्किक अचर होते हैं, अतः प्रश्न उठता है कि उनका प्रयोग किस प्रकार होता है? उन प्रकथनों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया क्या होती है? उनसे हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं? इत्यादि।

जिस प्रकार से हम तर्क करते हैं और जिस तरह से हम तर्कणा से उपलब्ध निष्कर्षों का उपयोग करते हैं, उन दोनों का असामंजस्य बेमेलपन की सम्भावना है ऐसा मैं सोचता हूँ। किसी भी अनुमान-प्रक्रिया का औचित्य इस आधार पर होना चाहिए कि वह हमें उन चीज़ों की ओर ले जाती है जिनका कथन हमारे द्वारा प्रदत्त अर्थों के अनुसार हमारे लिए उचित है।

फ.प. और विशेष रूप से तार्किक अचरों को हम जो अर्थ देते हैं उससे।

मा.ड. जी हाँ, इस प्रकार शब्द-व्यवहार के विभिन्न अंगों में संगति की आवश्यकता है। किन्तु यह अत्यधिक जटिल है और यह हमें यह कहने का अधिकार नहीं देती कि "देखिये हम इसी तरह तर्क करते हैं और इसी को हम 'तर्कणा' कहते हैं। बस इतना ही।"

फ.प. इसका अर्थ यह हुआ कि सामंजस्य की शर्त ही हम पर समग्रतावाद की अस्वीकृति थोपती है और हमें मजबूर करती है कि "शब्द-प्रयोग शब्दार्थ है" को हम इस प्रकार समझें कि वह तर्कणा के कुछ रूपों में संशोधन को आवश्यक बना दे, उदाहरणतः वे जो शास्त्रीय तर्कशास्त्र के नियमों पर आधारित हैं। यह तो विट्गेन्स्टाइन के मत के बिल्कुल ही प्रतिकूल है।

मा.ड. इसी बात पर मैं विट्गेन्स्टाइन से मूलतः असहमत हूँ। मैं नहीं मानता कि उसके यह कहने में कुछ भी औचित्य है कि दर्शन किसी भी चीज़ में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। हमारा शब्द-व्यवहार उसी तरह अनियमित हो सकता है जिस प्रकार हमारा अन्य व्यवहार अव्यवस्थित अथवा अतार्किक हो सकता है। यह बताने का अधिकार दर्शन को है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फ.प. क्या आप सोचते हैं कि तर्कणा के शास्त्रीय रूपों में तथा शास्त्रीय तर्कशास्त्र के नियमों में वस्तुतः असंगति है और उनसे विरोध उत्पन्न होते हैं?

मा.ड. मैं नहीं सोचता कि उनमें वास्तव में असंगति है। मैं यह भी नहीं मानता कि उनसे विरोध जैसा दुष्परिणाम होता है। मैं यह अवश्य मानता हूँ कि वे उस असामंजस्य की ओर ले जाते हैं अथवा ले जा सकते हैं जिसके विषय में आप बात कर रहे थे। अनुमान के कुछेक रूपों के प्रयोग के परिणामस्वरूप हम उन चीज़ों का कथन करते हैं जिनका कथन हमारे द्वारा प्रदत्त शब्दार्थ के अनुसार हमारे लिए उचित नहीं है।

फ.प. एक प्रचलित उदाहरण को लेते हैं। मान लें कोई निषेध निवर्तक के नियम का प्रयोग करता है, अर्थात् — —P से P अनुमानित करता है। अन्तःप्रज्ञावादी तर्कशास्त्री इस अनुमान को अवैध कहकर अस्वीकार कर देगा। परन्तु इस तार्किक नियम के प्रयोग को क्यों ग़लत कहा जा रहा है? अवश्य ही इसलिए कि — —P के आधार पर हम P का अभिकथन नहीं कर सकते। परन्तु P के अनुमान के लिए — —P पर्याप्त आधार क्यों नहीं है?

मा.ड. वह अपने-आप में पर्याप्त आधार नहीं है। निस्संदेह ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ पर यह बिल्कुल सही है और इन उदाहरणों में वे भी शामिल हैं जिनके मामले में वस्तुतः हम निर्धारण कर सकते हैं। परन्तु साधारणतया जब कोई ऐसी चीज़ होती है जिसके विषय में निर्णय करने के साधन हमारे पास नहीं होते तब कठिनाई आती है और सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि निषेध से आप क्या समझते हैं, जैसाकि हम साधारणतया कहते हैं कि यदि आप (निषेध) से कुछ इस प्रकार का अर्थ लेते हैं कि किसी वाक्य P के निषेध का कथन करने के लिए यह प्रदर्शित करना पर्याप्त है कि आप P का कथन करने की स्थिति में नहीं हो सकते थे—यह कतई सुनिश्चित नहीं करता कि आप उस वाक्य P का कथन करने की स्थिति में हैं।

फ.प. किन्तु यदि हम P के सत्यता-मूल्य का निर्धारण वास्तव में कर सकें तब तो यह कथन के लिए पर्याप्त आधार होगा।

मा.ड. ठीक, नहीं तो आपको कुछ कमज़ोर चीज़ प्राप्त होती है। हमें भ्रम इस बात से होता है कि हमारे मन में तस्वीर तो है एक निश्चित यथार्थ की, जिसका प्रत्यक्ष करने में हम चाहे समर्थ न हों परन्तु जिसका येन-केन प्रकारण निर्धारित होना अनिवार्य है। क्या यह असत्य नहीं है? 'अच्छा तो, इसे सत्य होना ही चाहिए', 'यह सरल है'—यह मनोवैज्ञानिक रूप से विवश बना देने वाली वह तस्वीर है जिसका हम प्रयोग करते हैं।

देखिये इसका सम्बन्ध केवल अनुमान के नियमों से नहीं है बल्कि बहुत कुछ यथार्थवादी तस्वीरों से भी है। नियततावाद में विश्वास अत्यन्त प्रचलित है। मैं क्वाँटम यांत्रिकी की बात नहीं करूँगा। वह एक भिन्न प्रश्न है। मेरा मतलब है कि वह एक और तर्क है जिस वजह से लोगों को नियततावाद में विश्वास नहीं करना चाहिये। क्वाँटम यांत्रिकी के विषय को भूल जाइये, तनिक ध्यान दीजिये अव्यवस्थित तंत्रों की ओर। नियततावादी अव्यवस्थित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तन्त्रों के समर्थकों ने मुझे बताया है कि यदि आपको आरंभिक दशायें निश्चित रूप से प्राप्त हैं तो उस तन्त्र की उत्तरवर्ती दशायें पूर्णरूप से निर्धारित होंगी। कठिनाई यह है कि हम उनका पूर्व अनुमान नहीं कर सकते क्योंकि हमें प्रारम्भिक दशाओं की निश्चित रूप से जानकारी कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। और थोड़ा सा परिवर्तन बाद में एक बड़े परिवर्तन को पैदा करेगा। इस प्रकार इन लोगों का दावा है कि वे (तन्त्र) पूर्व अनुमेय नहीं हैं, यद्यपि नियततावादी हैं। अब, किसी तन्त्र को नियततावादी कहने का अर्थ है यह मानना कि आरम्भिक दशाओं के निश्चित मूल्य हैं जो वास्तविक संख्याओं द्वारा निर्दिष्ट हैं। किन्तु ऐसा कहना एक प्रकार की गणितीय तस्वीर को—गणितीय सातत्य को—यथार्थता पर थोपना है जो वास्तव में हमारे अनुभव के बिल्कुल अनुरूप नहीं है। हर कोई बार-बार यह कहता है कि जब हम मापन करते हैं तो हमारा मापना कुछ अंश तक ही निश्चित होता है, इत्यादि। यदि आप यह मान कर नहीं चलते कि इन मात्राओं के उस अर्थ में पूर्णतः निर्धारित परिमाण आरम्भ से नहीं हैं तो आपके पास नियततावाद के लिए कुछ भी आधार नहीं बचता। यह कहना कि कोई भी तन्त्र नियततावादी है दूसरे शब्दों में गणित के विषय में टिप्पणी करना है।

फ.प. यह तो मानो गणित की ही एक विशेषता हुई।

मा.ड. आप ठीक कहते हैं, इसके मूल में यह मान्यता है कि इन सभी मात्राओं के परिमाण निश्चित रूप से वास्तविक संख्याओं की भाषा में नितान्त निर्धारित हैं।

फ.प. यही तथाकथित प्रच्छन्न मूल्य-सिद्धान्त का आंशिक रूप से आशय है।

मा.ड. बिल्कुल यही बात है। और यह एक ऐसी चीज़ है जो हमारे सोचने के इस ढंग के द्वारा थोपी गयी है।

फ.प. आइन्स्टीन का मत यही था।

मा.ड. किन्तु क्वाँटम यांत्रिकी की कुछेक विशेष समस्याओं के प्रति वह एक प्रतिक्रिया थी। मैं उस विषय में बात नहीं कर रहा हूँ। अनेक भौतिक शास्त्री निस्संदेह शास्त्रीय सातत्य को भौतिक यथार्थता का एक आदर्श नमूना मानते हैं। परन्तु मेरे विचार में यदि उन्होंने अन्तःप्रज्ञावादी सातत्य का प्रयोग किया होता तो कहीं अधिक अच्छा होता। आप निर्धारित मूल्यों की ओर हमेशा गतिशील होते हैं किन्तु उन तक पहुँचते कभी नहीं।

फ.प. चलिए विट्गेन्स्टाइन के तथा विट्गेन्स्टाइन तथा अन्तःप्रज्ञावाद के बीच सम्बन्ध के विषय में बात करते हैं। अन्तःप्रज्ञावाद की एक बात जो लोगों को पसन्द नहीं है वह है एक प्रकार का विषयिनिष्ठतावादी, बल्कि कहें अहम्मात्रवादी दर्शन, जो उससे जुड़ा है अथवा जिससे ब्राउर का अन्तःप्रज्ञावाद प्रतिबद्ध था। क्या आप सोचते हैं कि शब्दार्थ के सामाजिक स्वरूप पर विट्गेन्टाइन का दृष्टिकोण इससे बाहर निकलने की राह प्रदान करता है? मान लीजिये कि 'शब्द-प्रयोग शब्दार्थ है' यह धारणा शास्त्रीय तर्कशास्त्र के संशोधन की ओर ले जाती है। यदि हम विट्गेन्स्टाइन के बाद के दर्शन के उस अंश की यह व्याख्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्वीकार करते हैं· तो क्या हम वास्तव में अंतःप्रज्ञावाद को अहम्मात्रवाद या उस प्रकार के विषयिनिष्ठतावाद से, जिससे वह प्रायः जुड़ा है, बचा पाते हैं?

मा.ड. मेरा ऐसा ही विचार है। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राउर सच्चे मानों में अहम्मात्रवादी ही प्रतीत होते हैं। मैं सोचता हूँ कि उनको वास्तव में अपने अतिरिक्त किसी की सत्ता में विश्वास नहीं था। इन्द्रिय-प्रदत्त की भाषा, जो स्वयं अहम्मात्रवादी भाषा है, का उदाहरण लीजिये। यदि इस प्रकार की कोई भाषा होती तो आपको उस भाषा से भौतिक वस्तुओं की भाषा पर पहुँचने के लिए बड़ा कठिन प्रयत्न करना पड़ता किन्तु गणित से (भाषा की) विषमता बहुत अधिक है और इसमें शक नहीं कि गणितीय संरचनाओं की असंप्रेषणीयता के विषय में ब्राउर का मत बिल्कुल ही ग़लत है। गणित के विषय में उल्लेखनीय बात वास्तव में उसकी संप्रेषणीयता है। किसी भी गणितीय धारणा में ऐसा कुछ भी नहीं है जो दूसरे को बताया न जा सके। इस विषय में सबसे अधिक विस्मयजनक बात यह है कि आपको कुछ भी नहीं करना पड़ता, इस अर्थ में कि यदि आपके पास किसी गणितीय सिद्धान्त का वर्णन उन रचनाओं की भाषा में उपलब्ध है जिन्हें किसी गणितशास्त्री ने अपने मन में सोचा है तो उसको उन रचनाओं के ऐसे वर्णन में, जिसे एक गणितज्ञ से दूसरे गणितज्ञ को संप्रेषित किया जा सके, रूपान्तरित करने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता।

क्यों? क्योंकि ब्राउर के सिद्धान्त को, पृष्ठभूमि में परिवर्तन के अलावा अन्य किसी परिवर्तन के बिना, ऐसे सिद्धान्त में रूपान्तरित किया जा सकता है जो एक तरह से सामुदायिक गणित है। यह भाषा के किसी दूसरे क्षेत्र में नहीं हो सकता। भौतिक जगत् के संदर्भ में, वह जगत् जिसमें हम सब रहते हैं और जिसका मैं प्रत्यक्ष करता हूँ—इन दोनों में बहुत बड़ी खाई रह जाती है। परन्तु गणित के संदर्भ में ऐसी कोई खाई नहीं है और यही कारण है कि यहाँ अहम्मात्रवाद, जो मेरा पूरा विश्वास है कि ब्राउर के समूचे दर्शन का एक अंग एवं उसकी प्रेरणा था, उसका वस्तुतः कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता।

3. ऑस्टिन, राइल और कार्नप

फ.प. आपकी इजाज़त हो तो मैं फिर से विट्गेन्स्टाइन की बात करूँगा। अपनी पुस्तक **ट्रूथ एँड अदर एनिग्माज़**[10] के प्राक्कथन में आपने कहा है कि जिस प्रकार का काम विट्गेन्स्टाइन ने किया—कम से कम मेरे विचार से **फिलॉसोफीकल इन्वेस्टीगेशन्स** में—उससे आप ऑस्टिन के प्रभाव से बच गए। ऑस्टिन के तर्क से और लोक की नियम-रहित भाषा के विश्लेषणपरक दर्शन से, जो किसी समय ऑक्सफोर्ड में प्रचलित था, उनसे बचने में विट्गेन्स्टाइन का दर्शन किस प्रकार उपयोगी है? साथ ही क्या आप यह भी सोचते हैं कि वैश्लेषिक दर्शन को नियमित होना चाहिये अथवा क्या वह नियमित हो सकता है?

---

10. पृ. xii

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मा.ड. ऑस्टिन के विषय में मैंने जो कहा वह एक तरह से मेरे अपने विषय में एक ऐतिहासिक टिप्पणी थी। यह सच है कि व्यवस्था के प्रति विरोध विट्गेन्स्टाइन और ऑस्टिन के साधारण भाषा-दर्शन में समान है, अर्थात् यह धारणा कि आपको दार्शनिक विश्लेषण टुकड़ों में करना है, इत्यादि। किन्तु मेरे विचार में विट्गेन्स्टाइन ने, और कम से कम ऑस्टिन ने जो दावा किया है और जो सिखाया है, उनमें एक भारी अन्तर यह था कि विट्गेन्स्टाइन ने शुरुआत हमेशा दार्शनिक समस्याओं को लेकर की और वे उनसे जूझे, किन्तु ऑस्टिन ने यह माना कि वे हमारी अपनी भाषा की अस्पष्टताओं और उसे ग़लत समझने से, अर्थात् भाषा के प्रयोग की गड़बड़ियों से, पैदा होती हैं।

ऑस्टिन की तरह विट्गेन्स्टाइन निश्चित रूप से मानते थे कि इन सबका भाषा से गहरा सम्बन्ध है। किन्तु वे दार्शनिक समस्याओं से शुरू करते थे जबकि ऑस्टिन ने वस्तुतः यह शिक्षा दी—मैं नहीं जानता कि वह उनकी अपनी कार्यविधि के विषय में सच है या नहीं—कि हमारे लिए दार्शनिक समस्याओं को भूल जाना आवश्यक है। हमें शुरुआत शब्दों और उनके विभिन्न प्रयोगों को समझने, उनका सुस्पष्ट विश्लेषण करने इत्यादि से करनी चाहिये—इस बात की परवाह किये बिना कि वस्तुतः दार्शनिक समस्याएँ क्या हैं, और तब एक चमत्कार होगा और सारी की सारी दार्शनिक समस्याओं का विलयन हो जायेगा।

फ.प. मेरे विचार में यह काफी हद तक चिन्तन, जैसे मैं उसे समझता हूँ, का विनाशक है। समस्त दर्शन की प्रेरणा तो वे उलझनें हैं जो आपके सामने तब आती हैं जब आप मानव-संकल्प, अथवा काल अथवा किसी और प्रश्न के विषय में विचार करना प्रारम्भ करते हैं। और लोगों को इन पर ध्यान न देने की शिक्षा देना तो खैर वैश्लेषिक दर्शन की एक अन्य पद्धति भी है। मैं अमरीका में कार्नप के प्रभाव के विषय में सोच रहा हूँ। कार्नप एक व्यवस्थित दार्शनिक थे और राइख़नबाख़, क्वाइन, गुडमैन, पुटनम आदि पर उनका गहरा प्रभाव था। अमरीकी दार्शनिकों की पूरी की पूरी पीढ़ियाँ हैं जिन्होंने दर्शन को कार्नप के अनुसार समझा अथवा उन्होंने कार्नप को आदर्श माना। और कार्नप का मानना था कि दर्शन का कार्य तन्त्रों की संरचना करना है। क्या आप सोचते हैं कि दार्शनिक कर्म क्या होना चाहिए इसके विषय में उनका मत अधिक सही था? निस्संदेह यहाँ उनका प्रभाव नहीं के बराबर था।

मा.ड. और इसका कारण रॉइल था। ऑस्टिन के विषय में एक आख़िरी बात। मैंने यही माना कि ऑस्टिन ने दार्शनिक चिन्तन को नहीं समझा। वह एक बहुत होशियार व्यक्ति था। किन्तु मैंने हमेशा यही समझा कि उनका प्रभाव बहुत बुरा था। जहाँ तक राइल का सम्बन्ध है, उनके बारे में मेरा मत ऐसा नहीं था। ऐसे मत पर मैं धीरे-धीरे पहुँचा परन्तु उस समय नहीं। इसके विपरीत राइल ने जो कहा था उसमें से काफी को मैंने स्वीकार किया अथवा उस पर कदाचित् विश्वास किया। वे कार्नप के कड़े विरोधी थे। उन्होंने कार्नप को बहुत बुरा दार्शनिक करार दिया, जो छोटी-छोटी ग़लतियाँ करता था। यही कारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

था कि मैंने कार्नप को सही मानों में बहुत देर बाद पढ़ा और उनके विचारों को गम्भीरता से लिया। किन्तु ऑक्सफोर्ड में दर्शन पढ़ते हुए मैं उस समय बड़ा हुआ जब वहाँ राइल बादशाह था। उसका अत्यधिक प्रभाव था। ऑस्टिन कुछ बाद में आया। तब मैं यह मानने लगा था कि कार्नप पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है, मात्र इसलिए कि राइल ने कहा है कि हमें उस पर ध्यान नहीं देना चाहिये। वे लोग उनका मज़ाक उड़ाते थे। इस प्रकार मेरे लिए चीजें उन लोगों की अपेक्षा बहुत भिन्न हैं जिनके लिए कार्नप का कथन वेद-वाक्य था।

फ.प. क्वाइन एवं गुडमैन पर उनके प्रभाव को देखना काफी होगा?

मा.ड. हाँ, यह सच है। द **स्ट्रक्चर ऑफ अपियरेन्स**, जो गुडमैन की पहली पुस्तक थी, वह **लॉजिस्च ऑफ्बाउ** (Iogische Aufbau) में किये गये कार्य की विधि के अनुसार कार्य करने का एक प्रयत्न था। किन्तु तब मैं सोचता था, और वास्तव में आज भी मैं यह मानता हूँ, कि वह प्रयास पूर्णतः ग़लत दिशा में था।[11] मैं सोचता हूँ कि विट्गेन्स्टाइन का यह मत ग़लत है कि ऐसे कोई दार्शनिक दावे नहीं हैं जिन्हें दर्शन वास्तव में कर सके, और दर्शन का कुल काम आपको उन चीज़ों की याद दिलाना है जिन्हें आप पहले से ही भलीभाँति जानते हैं। मैं समझता हूँ कि ऐसे बहुत से सिद्धान्त हैं जिन्हें गढ़ने की आवश्यकता होती है। किन्तु कार्नप के अपने सिद्धान्तों से मैं बहुत प्रभावित नहीं हुआ था। मुझे उनके सिद्धान्त बिल्कुल अनुर्वर प्रतीत होते हैं। अतः क्वाइन द्वारा उसका विरोध समझ में आता है। मैं इसे किस प्रकार कहूँ? क्या आपने आइरिश व्यक्ति की कहानी सुनी है? कोई रास्ता भूल गया था और उसने एक आइरिश व्यक्ति से पूछा 'डबलिन पहुँचने का रास्ता कौन-सा है?' आइरिश व्यक्ति ने थोड़ी देर सोचा और फिर कहा : 'यदि मैं डबलिन जा रहा होता तो मैं यहाँ से आरंभ नहीं करता।' मुझे लगता है कि कार्नप से शुरू करना एक दुर्भाग्य की बात थी।

फ.प. इसे सच माना जा सकता है, परन्तु कार्नप में बहुतेरी चिंतायें हैं—उदाहरणतः उस लम्बे लेख 'टेस्टिबिलिटी एँड मीनिंग' में, जो वास्तव में आप जिस तरह की चीज़ों की चिन्ता करते हैं उनके बहुत निकट है।[12] मैं विशेष रूप से बात कर रहा हूँ शब्दार्थ विषयक सत्यापनीयता के सिद्धान्त की, और जिस ढंग से उन्होंने इसमें संशोधन किया और सत्यापन की धारणा को संभाव्यता से परिभाषित क्रमिक पुष्टीकरण की अधिक मान्य धारणा से

---

11. रुडोल्फ कार्नप, **डेर लॉजिश्च ऑफ्बाउ डेर वैल्ट, वैल्ट क्राइस** (फर लाग, बर्लिन) 1928, आर. ए बर्कले द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद **द लॉजिकल कन्स्ट्रक्शन ऑफ द वर्ल्ड**, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस, 1967, नेल्सन गुडमैन, **द स्ट्रक्चर ऑफ अपियरेन्स**, यूनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, मास, 1951 देखिए **ट्रूथ एण्ड अदर एनिग्माज़** (अध्याय 3, पृ. 29-37) में डमेट द्वारा दूसरी किताब की समीक्षा।

12. रूडोल्फ कार्नप, 'टेस्टेबिलिटि एण्ड मीनिंग', **फिलॉसफी आफ साइंस** जिल्द 3, (अक्टू. 1936), पृ. 419-71 (भाग I-III), जिल्द 4 (जन-1937), पृ. 1-40 (भाग IV)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रतिस्थापित किया। मैं उनके द्वारा इस अपरिष्कृत धारणा के, कि असत्यापनीय कथन निरर्थक होते हैं, खण्डन के बारे में भी सोच रहा हूँ, जो एक निश्चित संकेत है कि सार्थकता अथवा ज्ञानात्मक अर्थ का मूलभूत भाववादी (पॉज़िटिविस्टिक) मानक त्रुटिपूर्ण था। ये सभी चिन्तायें, जिस ढंग से आप यथार्थवाद बनाम यथार्थविरोधीवाद के विवाद को समझते हैं, उसके आधारभूत प्रश्नों के बहुत निकट हैं।

मा.ड. यह कदाचित् सत्य है। यह राइल की शिक्षा का ही स्थायी प्रभाव था कि मैंने कार्नप की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

4. वैश्लेषिक दर्शन, उसका इतिहास एवं प्राथमिकता सिद्धान्त

फ.प. चलिए कार्नप को एक तरफ रखते हैं। मैं एक अन्य प्रश्न पर आता हूँ। हाल ही में आपने दर्शन के इतिहास में रुचि ली है। **ओरिजिन्स ऑफ एनालिटिकल फिलॉसफी** के आरम्भ में ही आपने कहा है कि वैश्लेषिक दर्शन का अपने स्वयं के इतिहास को समझना ज़रूरी है।[13] मेरा अनुमान है कि यह आपकी पहली पुस्तक के प्रति स्लूगा की शिकायतों से प्रेरित था।

मा.ड. हाँ, शायद परोक्ष रूप से। कहने का तात्पर्य यह है कि स्लूगा की टिप्पणियों ने थोड़े समय उपरान्त मुझे विश्वास दिला दिया कि मैंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया था। परन्तु जैसा मैंने पहले भी कहा (मैं) उनके स्वयं के विवरण से बहुत प्रभावित नहीं हुआ, विशेषकर उनके द्वारा हुसर्ल की ओर ध्यान न देने की बात ने मुझे बिल्कुल ही प्रभावित नहीं किया। फ्रेगे पर उस पुस्तक में वे कहते हैं कि दोनों की तुलना करना रोचक होगा, लेकिन यह उनकी पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है। मुझे लगता है कि यदि आप फ्रेगे एवं उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर पुस्तक लिख रहे हैं तो आपको ऐसा निश्चित रूप से करना ही चाहिये। लोढ्ज़ आदि के विषय में जो सामग्री है वह कुछ विशेष लाभदायक नहीं है। लेकिन ऐसा केवल स्लूगा की प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं हुआ। इसका कारण डच दार्शनिक हरमैन फिलिप्स भी थे जो 1982 अथवा 1983 में ऑक्सफोर्ड में थे और हुसर्ल की **लॉजीकल इन्वेस्टिगेशन्स** पर एक परिसंवाद प्रस्तुत करना चाहते थे। उन्होंने मुझसे सम्पर्क किया। कारण मेरे विचार में अंशतः यह था कि वे एक अभ्यागत थे और यह भी नहीं जानते थे कि यदि वे परिसंवाद देंगे तो कोई आयेगा कि नहीं, अथवा उनको ऐसा करने की अनुमति भी थी अथवा नहीं। मैंने उनके साथ परिसंवाद करने का प्रस्ताव किया। परिणामस्वरूप मैंने **इन्वेस्टिगेशन्स** का विस्तार से अध्ययन किया और उसमें मेरी काफी रुचि जाग्रत हो गई। इस प्रकार इसके कई कारण थे। एक अन्य अभिप्रेरणा थी उन प्रश्नों का उत्तर देना जिनका उत्तर देने में स्लूगा असमर्थ रहे थे।

---

13. बोलोग्न यूनिवर्सिटी में 1987 में दी गयी व्याख्यानमाला का मूल पाठ लिंगुआ ए स्टाइल एनो xxiii, 1988 पृष्ठ 3-49, 171-210 में प्रकाशित हुआ था। मैं इसी संस्करण का उल्लेख करूँगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फ.प. इस प्रकार की समझ, अर्थात् वैश्लेषिक दर्शन के इतिहास की समझ की दार्शनिक सार्थकता उसकी साधारण ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक सार्थकता के अलावा क्या है? अधिकांश वैश्लेषिक दार्शनिक ऐसा सोचते हैं कि यह दर्शन की दृष्टि से पूर्णरूपेण अप्रासंगिक है।

मा.ड. जी हाँ, परन्तु इस शताब्दी के आरम्भ की ओर ध्यान दीजिये, उस समय की ओर जब हुसर्ल ने **लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन्स** को प्रकाशित किया था। तब फिनोमिनौलौली एक विचारधारा के रूप में नहीं उभरी थी। तब वैश्लेषिक दर्शन भी एक विचारधारा के रूप में सामने नहीं आया था। उस समय अनेक विचारधाराएँ प्रचलित थीं और आप फ्रेगे और हुसर्ल को काफी निकट समझते थे, किन्तु उनके उत्तराधिकारी उन्हें एक-दूसरे से काफी भिन्न समझते थे। यह एक बहुत रोचक प्रश्न है जिससे मेरे विचार से काफी बातें स्पष्ट होती हैं। वे इतने भिन्न क्यों थे? इसी को दूसरे शब्दों में मैं इस प्रकार कहूँगा कि वैश्लेषिक परम्परा में भी अब काफी लोग हैं, गैरेथ इवान्स उनमें से सबसे पहले थे, जो विचार पर भाषा की प्राथमिकता का, जिसे मैंने एक समय वैश्लेषिक दर्शन का मूलभूत प्रमेय कहा था, खंडन करते हैं।

फ.प. प्राथमिकता सिद्धान्त?

मा.ड. हाँ, प्राथमिकता सिद्धान्त। फिर भी वे स्पष्ट रूप से वैश्लेषिक परम्परा के हैं। मैं नहीं सोचता कि इवान्स ने अपने पूरे जीवन में हुसर्ल का एक शब्द भी पढ़ा होगा। रसल, फ्रेगे एवं मूर उनकी पुस्तक के स्तम्भ थे।[14] अब अन्य लोग भी हैं। क्रिस्टोफर पीकौक उनमें से एक हैं। इससे सवाल पैदा होता है कि वैश्लेषिक दर्शन के लिए मूलभूत चीज़ क्या है? पहले आप कह सकते थे कि वह प्राथमिकता सिद्धान्त है। उन सभी ने उसे स्वीकार किया है। परन्तु अब ऐसा कहना सत्य नहीं होगा। क्या ये लोग वैश्लेषिक दार्शनिक हैं? यह स्पष्ट है कि वे हैं क्योंकि जिस तरह का विश्लेषण वे करते हैं वह फ्रेगे के शब्दार्थ सिद्धान्त के बहुत निकट है। अथवा कम से कम उस से विकसित हुआ है इत्यादि। अतः वैश्लेषिक दर्शन के लिए मूलभूत क्या है यह निर्धारित करने का प्रश्न वास्तव में एक बड़ा रोचक प्रश्न है। परन्तु आप यह कैसे समझ सकते हैं जब तक आप उसके उद्‌गम तक वापिस नहीं जायें? वह क्या है जो इस प्रकार के दर्शन को दूसरों से भिन्न करता है? यह भिन्नता कहाँ प्रकट होती है? इसलिए मैं सोचता हूँ कि बहुत सारे कामों की ज़रूरत है।

एक अन्य बात, जिसकी मैंने अपनी पहली पुस्तक में बिल्कुल व्याख्या नहीं की लेकिन जो मेरे विचार में कई बातों पर प्रकाश डालती है, वह है यह तथ्य कि हम विट्‌गेन्स्टाइन एवं वियेना सर्किल के मध्य आदान-प्रदान को बिल्कुल नहीं समझते हैं। **ट्रैक्टेस** की वजह

---

14. **द वैराइटीज़ ऑफ रेफरेन्स**, जे. मैकडावेल द्वारा सम्पादित, क्लेरेन्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1982, गोरेथ इवान्स के ही **कलेक्टेड पेपर्स**, क्लेरेन्डन प्रेस, आक्सफोर्ड, 1985.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से विंट्गेन्स्टाइन की फ्रेगे पर श्रद्धा थी। परन्तु यह रसल के अधिक निकट है बजाय फ्रेगे के। वह कैम्ब्रिज के वातावरण में लिखी गई थी। जिन समस्याओं के बारे में वे विचार कर रहे थे वे वही समस्याएँ थीं जिन पर रसल, रैम्से आदि विचार कर रहे थे। और फिर उसने इन पूर्णतः भिन्न लोगों पर एक पूर्णतः भिन्न वातावरण में वियेना में इतना बड़ा प्रभाव डाला। वस्तुतः क्या हुआ? विट्गेन्स्टाइन एवं इन लोगों में क्या सम्बन्ध था? मैं इसे बिल्कुल भी नहीं समझ पाया हूँ और मुझे लगता है कि जब हम इसे समझ लेंगे, हम बहुत कुछ सीखेंगे, न केवल ऐतिहासिक बल्कि दार्शनिक भी।

फ.प. आपने अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही यह भी लिखा है कि आपको लेखकों एवं सिद्धान्तों के मध्य कार्य-कारण सम्बन्धों में कोई रुचि नहीं बल्कि रुचि है उनकी उत्तरवर्ती अवधारणाओं में, जो इस शताब्दी के प्रारम्भ में प्रचलित थीं। वे धारणाएँ जो उन दार्शनिकों में भी मिलती हैं जो वैश्लेषिक परम्परा के नहीं हैं, उदाहरणस्वरूप ब्रेन्टानो एवं हुसर्ल[15] एक समय पर आप ज़्यादा निश्चित रूप से यह कहते हैं कि आपकी जिसमें रुचि है वह है इनसे अधिकृत रूप से उत्पन्न अवधारणाएँ।[16] क्या कुछ ऐसे घुसपैठिये भी हैं, वे लोग जो यह अनधिकृत दावा करते हैं कि वे वैश्लेषिक परम्परा के हैं लेकिन वास्तव में हैं नहीं?

मा.ड. यह एक बहुत अच्छा प्रश्न है। इस क्षण जो मुझे घुसपैठिये लगते हैं वे केवल विभिन्न प्रकार के ऐसे लोग हैं जो सोचते हैं कि दर्शन किसी न किसी रूप में समाप्त हो गया है। इनमें विट्गेन्स्टाइन के अनेक तथाकथित अनुयायी शामिल हैं। निश्चय ही, वेकर एवं हैगर भी हैं जो यह सोचते हैं कि वास्तव में अब कोई दार्शनिक समस्याएँ निदान के लिए शेष नहीं रह गयी हैं।[17] एक बार आपने उनकी तरह निर्वाण प्राप्त कर लिया तो आप पाते हैं कि कोई भी दार्शनिक विवेचन अर्थहीन होगा ही होगा। आप केवल इतना ही कर सकते हैं कि उसके इतिहास को परे फेंक दें एवं बता दें कि ये लोग कैसे विभिन्न प्रकार के निरर्थक प्रलाप कर रहे थे। यह केवल प्रश्नाभासों और उनके हल के लिए निरर्थक समाधानों की शृंखला का इतिहास है, इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है। अमरीका में रोर्टी मूल रूप से इसी मत का थोड़े भिन्न दृष्टिकोण से प्रचार करते हैं।

---

15. **ऑरिजन्स ऑफ एनालिटिकल फिलॉसफी**, पृ. 2-3

16. पहले उद्धृत पृ. 3 "मैं उन दिशाओं के विषय में बात करूँगा जिनकी ओर विभिन्न दार्शनिक अवधारणाएँ ले जाती हैं एवं उनके अधिकृत रूप से विकास क्या-क्या हुए, इस विषय में अपने आपको ज़्यादा तकलीफ दिये बग़ैर कि किसने किसकी रचनायें पढ़ीं, अथवा क्या 'क' ने कोई अवधारणा 'ख' से प्राप्त की अथवा स्वतन्त्र रूप से प्राप्त की?"

17. जी.पी. बेकर एवं पी.एम.एस. हैकर **विट्गेन्स्टाइन, अण्डरस्टैंडिग एण्ड मीनिंग : एनालिटिकल कॉमेन्ट्री आन द फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशन्स** का पहला खण्ड, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड 1980, खण्ड-2, **विट्गेन्स्टाइन : रूल्स, ग्रामर एण्ड नैसेसिटी**, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1985

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फ.प. कॉन्टीवेन्ट में इसका प्रचार काफी समय से हो रहा है।

मा.ड. क्या यह सच है? ऐसा कौन कर रहा है?

फ.प. उदाहरणस्वरूप डेरिडा। लेकिन साथ ही, और थोड़े अधिक सामान्य रूप से इसका प्रचार ऐसे लोगों द्वारा भी किया गया है जिनको पूर्ण विश्वास है कि इतिहास के विभिन्न चरणों में प्रस्तुत होने वाली दार्शनिक समस्याओं अथवा उनके क्रमिक विवेचनों में मूलभूत असातत्य है। इस सन्दर्भ में यह सिद्धान्त दर्शनशास्त्र की इतिहासवादी अवधारणा का सीधा परिणाम लगता है बजाय एक ऐसे दार्शनिक मत के जिसमें लोग अन्धविश्वास रखेंगे। कुछ मामलों में यह लोगों को इस नतीजे की ओर ले गया है कि यह प्रागनुभविक रूप से निश्चित है कि दर्शनशास्त्र की परम्परागत समस्याओं के समाधान असफल होंगे ही।

मा.ड. किन्तु डेरिडा तो वैश्लेषिक परम्परा में होने का दिखावा नहीं करते हैं।

फ.प. किन्तु रोर्टी पर कॉन्टीनेन्ट का प्रभाव बहुत गहरा है और विचित्र बात है कि रोर्टी जैसे लोगों के माध्यम से पुटनम पर भी।

मा.ड. पुटनम रोर्टी की कई बातों का खण्डन करते हैं परन्तु वे उनसे थोड़ा प्रभावित भी हैं। ठीक है। चलिए इन सब को घुसपैठिये मान लेते हैं।

फ.प. तो फिर हम वैश्लेषिक दर्शन को किस तरह पहचानें? यह काफी मुश्किल काम लगता है। हम यह नहीं कह सकते कि कोई मत-समूह है जिसे सभी वैश्लेषिक दार्शनिकों को, मात्र इस कारण कि वे वैश्लेषिक दार्शनिक हैं, स्वीकार कर लेना चाहिये। (वैसे यूरोप में कुछ दार्शनिक किसी न किसी प्रकार के इन्द्रियानुभववादी अथवा भाववादी हैं।) हम ऐसा विषयवस्तु के आधार पर नहीं कह सकते न ही हम विधि के आधार पर ऐसा कह सकते हैं। ऐसी कोई एक विधि नहीं है जिसे सभी वैश्लेषिक दार्शनिक किसी समस्या विशेष पर विचार करते समय अपनाते हों। तो हम यह कैसे करें? **ओरिजिन्स ऑफ एनालिटिकल फिलॉसफी** में आपने इस विषय पर बहुत कठोर एवं सीमित दृष्टिकोण अपनाया है—जब आप यह दावा करते हैं कि केवल भाषा का दार्शनिक विश्लेषण ही हमको विचार के दार्शनिक की ओर ले जा सकता है।[18] मुझे ऐसा लगता है कि यदि हम ऐसा मानते हैं तो गैरेथ इवान्स का काम वास्तव में अब उस परम्परा का अंग नहीं रह जाता। शायद वह अब भी हो लेकिन केवल परिधि पर।

मा.ड. किन्तु इतिहास की दृष्टि से यह बिल्कुल स्पष्ट है। ठीक है ना?

फ.प. इतिहास की दृष्टि से वह है और यही वह बात है जो मैं कहना चाहता था। हम इस समस्या को एक भिन्न प्रकार से भी देख सकते हैं। उदाहरण के लिए नेल्सन गुडमैन

---

18. पूर्व उद्धृत, पृ. 4 "जो वैश्लेषिक दर्शन को, उसकी विविध अभिव्यक्तियों में, अन्य दर्शनों से भिन्न बनाता है वह है प्रथम यह विश्वास कि भाषा के दार्शनिक विवरण द्वारा विचार का दार्शनिक विवरण प्राप्त किया जा सकता है एवं द्वितीय, कि एक व्यापक विवरण **केवल** इसी (रेखांकन मेरा है) प्रकार प्राप्त किया जा सकता है।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के अनुरूप (उनका अपना विशिष्ट प्रकार का) नाममात्रवाद वस्तुतः क्या है इसकी व्याख्या करने के तरीके के विषय में सोचिये। वह यह बताने का काम नहीं कर रहे हैं कि विशेष क्या है (मैं मानता हूँ कि वे अन्ततः वह भी करते हैं।) वह मुख्यतः यह व्याख्या करने का प्रयास कर रहे हैं कि जगत् का, जो विशेषों से संरचित है, वर्णन करना क्या है।[19] कोई कह सकता है कि "यह तो काम करने का विशिष्ट वैश्लेषिक तरीका है।" दार्शनिक प्रश्न स्वतः स्थगित हो जाता है जब तक कि भाषा-सम्बन्धी प्रश्न को उचित प्रकार से समझ या सुलझा नहीं लिया जाता है, या शायद तब तक जब तक कि हमको भाषा सम्बन्धी प्रश्न का संतोषप्रद निरूपण नहीं मिल जाता है। हमें और भी कई उदाहरण मिल सकते हैं।

परन्तु चलिए वापस आते हैं इवान्स और एकवचनीय विचारों के उस विश्लेषण पर जिसको उन्होंने अपने 'अन्डरस्टैंडिंग डिमोन्स्ट्रेटिव्स' में प्रस्तुत किया है। जो कई प्रकार से उस मत के अव्यक्त खण्डन पर आधारित है जिसको आप वैश्लेपिक दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त मानते हैं। इवान्स मानते हैं कि किसी एकवचनीय पद पर फ्रेगे के मत जैसा अर्थ आरोपित करना यह कहने के समान है कि यदि उस पद को समझना है तो उसके द्वारा निर्दिष्ट के विषय में (एक निर्दिष्ट के रूप में) एक निश्चित प्रकार से सोचा जाना अनिवार्य है।[20] अतः हम वैश्लेषिक दर्शन की पहचान करने में इस प्राथमिकता सिद्धान्त की क्या भूमिका मानें, यदि कोई भूमिका है तो?

मा.ड. आप निश्चय ही सिद्धान्त के द्वारा ऐसा नहीं कर सकते जैसाकि आपने कहा है। आप ऐसा दृष्टिकोण ले सकते हैं कि जब एक बार प्राथमिकता सिद्धान्त का खण्डन कर दिया जाये तो आप उत्तर वैश्लेषिक दर्शन या ऐसे ही कुछ में आ गये हैं। आप इसको एक परिभाषायी लक्षण के रूप में ले सकते हैं। किन्तु मुझे लगता है कि ऐसा करना ग़लत होगा, और वैसे भी कोई मदद नहीं करेगा। मेरे विचार से वैश्लेषिक दार्शनिकों एवं दूसरों के बीच महत्त्वपूर्ण भेद शायद यह है कि सभी वैश्लेषिक दार्शनिक ऐसा कुछ मान कर चलते हैं जो गणितीय तर्कशास्त्र के आधारभूत शब्दार्थ शास्त्र से मिलते जुलते हैं, अर्थात् फ्रेगे के शब्दार्थ शास्त्र से उसके समस्त पहलुओं को नहीं। लेकिन फिर भी वे ऐसी किसी संरचना को मानते ही हैं जिसमें वाक्यों के अवयव अथवा विचारों के अवयव—हम विचारों की संरचना को वाक्यों की संरचना के आधार पर प्रस्तुत एवं मॉडल करते हैं—पूरे वाक्यों अथवा पूरे विचारों के शब्दार्थ-मूल्य में योगदान देते हैं। यही योगदान उनकी सत्यता अथवा निश्चयात्मक कथनीयता को सुनिश्चित करता है।

19. देखिये, उदाहरणस्वरूप नेल्सन गुडमैन 'ए वर्ल्ड ऑफ इन्डिविजुअल्स' प्राब्लम्स एण्ड प्रोजेक्ट्स में पुनः प्रकाशित, वाल्स मेरिल, इन्डियानोपोलिस एव न्यूयार्क, पृ. 159

20. गैरेथ इवान्स, कलेक्टेड पेपर्स, पृ. 291-321, उद्धरण पृ. 301 से है। भाग IV के अन्त में पृ. 308-11 पर 'ज्ञानात्मक अवस्थाओं', किसी विषय पर 'दृष्टि रखने' तथा किसी विषय को 'ग्रहण करने' के विषय में उक्तियों को भी देखें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फ.प. तो यौगिकता परिभाषायी लक्षण है?

मा.ड. एक सामान्य सिद्धान्त की तरह से यौगिकता मात्र नहीं बल्कि वाक्य-विन्यास के किसी ऐसे विचार से युक्त यौगिकता जो मानक विधेय-तर्कशास्त्र के कुछ हद तक समान है। यह बहुत अस्पष्ट है और हो सकता है इसको कुछ साधारण भाषा-दार्शनिकों पर लागू करना कठिन हो। परन्तु मेरे विचार में यह फिर भी उनकी पृष्ठभूमि है और वैश्लेषिक दार्शनिकों को औरों से अलग करती है। कई लोग गणितीय तर्कशास्त्र पर बहुत कम ध्यान देते हैं। फिर भी, यह उन सभी की विचार-प्रक्रिया के निर्माण का अंग रहा है। यह अर्थ एवं विषय-वस्तु पर उनके दृष्टिकोण में बरबस शामिल हो जाता है।

फ.प. तब क्या यह केवल शैली का विषय है? आजकल बहुत से वैश्लेषिक दार्शनिक गणितीय तर्कशास्त्र में न तो प्रत्यक्ष न परोक्ष रूप से रुचि रखते हैं।

मा.ड. गणितीय तर्कशास्त्र एक बहुत विशाल संरचना है जो उस प्राथमिक हिस्से से, जिसे उन्होंने सीखा है, कहीं विस्तृत है। फिर भी प्राथमिक तर्कशास्त्र उनके भाषा एवं विचार की अवधारणा की पृष्ठभूमि में है। किन्तु हो सकता है उनके लिए न हो जिन्हें यह प्राथमिक ज्ञान नहीं है। वास्तव में मुझे नहीं पता कि क्या सच है। यदि आप किसी फ्रांसीसी विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं तो क्या वे आपको प्राथमिक गणितीय तर्कशास्त्र पढ़ाते हैं?

फ.प. हाँ पढ़ाते हैं, हालांकि ज़्यादातर लोग ऐसा सोचते हैं कि वह गूढ़ दार्शनिक विषयों के लिए नितान्त अप्रासंगिक है। वे इसको शुद्ध रूप से तकनीकी विषय-वस्तु मानते हैं।

5. यथार्थ-विरोधवाद, सत्यापनवाद तथा मनस्-दर्शन

फ.प. मेरे पास आपसे भाषा-दर्शन, मनस्-दर्शन तथा यथार्थ-विरोधवाद के सम्बन्ध के विषय में पूछने के लिए अनेक प्रश्न हैं। चलिए मैं उस प्रकार के यथार्थ-विरोधवाद से आरम्भ करता हूँ जिसका आप समर्थन करते हैं, या फिर उस चुनौती से जिसका आपके विचार में यथार्थवादी को उत्तर देना ही होगा। बहुत से लोगों को यह लगता है कि आप जिस प्रकार के शब्दार्थशास्त्र का समर्थन करते हैं वह निश्चित रूप से सत्यापनवाद का कोई न कोई रूप होगा। उदाहरणस्वरूप माइकल डेविट द्वारा की गई आलोचना[21] जो निश्चित रूप से इसी प्रकार की व्याख्या पर आधारित है एवं स्टीफेन शिफर द्वारा की गई आलोचना भी, जो **रेम्नेन्ट्स ऑफ मीनिंग** में आप पर सत्यापनवाद एवं व्यवहारवाद दोनों के ही आरोप लगाने के बहुत निकट हैं।[22] बेशक ये ऐसे दार्शनिक मत हैं जिनका आजकल कोई भी समर्थन करने का साहस नहीं करेगा। फिर भी ऐसा सोचना आकर्षक लगता है कि शब्दार्थ का यथार्थ-विरोधवादी सिद्धान्त अर्थ के सत्यापनवादी सिद्धान्त के निकट है,

---

21. माइकल डेविट, **रियलिज्म एण्ड ट्रूथ**, प्रिन्स्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्स्टन, 1984, अध्याय 12
22. स्टीफेन शिफर, रेम्नेन्ट्स ऑफ मीनिंग, एमआई.टी. प्रेस, कैम्ब्रिज, मास, 1987, भाग 8.4

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यदि उससे अभिन्न नहीं है तो। आपकी यथार्थ-विरोधवाद की अवधारणा में और इस कुछ-कुछ पुराने पड़ गये मत में क्या मुख्य अन्तर है? आप इन दोनों में विभेद कैसे करेंगे?

मा.ड. आपने कहा कि कोई भी सत्यापनवाद का समर्थक नहीं होगा। वास्तव में मैंने पहले 'सत्यापन' पद का प्रयोग किया है, लेकिन मुझे नहीं लगता कि यह प्रयोग के लिए पूरी तरह से उपयुक्त पद है। 'प्रमाणीकरण' पद बेहतर है तथा मैं जिस अवधारणा का समर्थन करता हूँ वह यह है कि किसी कथन का अर्थ उससे समर्थन में जिस प्रकार का प्रमाणीकरण दिया जा सकता है उससे प्रदत्त है। वियेना सर्किल के सत्यापनवाद तथा मैं जिस प्रकार के शब्दार्थ सिद्धान्त का समर्थन करता हूँ उसमें बड़ा भेद है, जो मेरे द्वारा भाववादियों के मत में अव्यक्त रूप से विद्यमान अणुवाद के खण्डन में निहित है। भाववादी इस प्रकार की बात करते थे जैसेकि प्रत्येक वाक्य को किसी भाषा से जुड़े होने से स्वतन्त्र रूप से सार्थक माना जा सकता है, अर्थात् किन्हीं और वाक्यों के उससे सम्बद्ध होने से स्वतंत्र रूप से। सत्यापन अंततः कुछ इन्द्रियानुभवों की शृंखला में ही निहित होगा। किन्तु यह तो स्पष्ट रूप से निरर्थक है। आप ऐसे किसी शब्दार्थ को नहीं मान सकते जो इस तथ्य की अवहेलना करता हो कि हमारे वाक्य एक भाषा के अंग हैं और अन्य वाक्यों से सम्बन्धित होते हैं। साधारणतया किसी भी निश्चय कथन तथा किसी भी कथन का प्रमाण ऐसा कुछ होगा जिसमें न केवल अनुभव बल्कि अनुमान भी निहित हो। यही वह विभेद है जो क्वाइन के प्रसिद्ध लेख 'टू डोग्माज़ ऑफ एम्पिरिसिज्म' में किया गया है।[23] वे अंततः भाषा की ऐसी तस्वीर पर पहुँचते हैं जो ऐसी व्यक्त की गयी संरचना है जिसमें कुछ चीज़ें हैं...।

फ.प. ...परिधि पर...।

मा.ड. तथा कुछ चीज़ें हैं ज़्यादा अन्दर, इत्यादि-इत्यादि। वे शब्दार्थ की जिस अवधारणा का प्रयोग करते हैं उसके विषय में सोचिये—मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि वह जैसी है मैं उससे पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ। सच यह है कि वे भाववाद की केवल सत्यापनवादी होने के कारण आलोचना नहीं करते। इसके विपरीत वे जिस तस्वीर को अंततः देते हैं वह पूर्णरूप से संबद्ध है वाक्यों की संरचना तथा उन वाक्यों को प्रदत्त सत्य-मूल्यों की अनुभवों से अनुरूपता से। अनुभव का प्रभाव संरचना पर उसके समग्र रूप में होता है। अतः अभी भी इसको सत्यापन (अथवा असत्यापन, यदि आप कहना चाहें तो) के रूप में तथा जो समायोजन अनुभव के प्रभाव के फलस्वरूप संरचना में करने पड़ते हैं उसके रूप में समझा जा रहा है। वे केवल उस अवधारणा की आलोचना करते हैं जिसके अनुसार प्रत्येक वाक्य जैसे अपने आप में अलग से स्थित है और इन्तज़ार में है यह देखने के कि क्या किसी चीज़ का उस पर प्रभाव होता है?

---

23. यह लेख क्वाइन के फ्राम ए लाजिकल प्वाइन्ट ऑफ व्यू में तथा नाइन लाजिको फिलॉसफिकल एसेज में पुनर्प्रकाशित है, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, मास, 1953, पृ. 20-46

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फ.प. ताकि भाषा से जैसे कि विलग हो।

मा.ड. बिल्कुल ठीक। यह स्पष्ट है कि प्रभाव का संचार परिधि से केन्द्र की ओर हो सकता है तथा संचार अनुमानीय सम्बन्धों के द्वारा किया जाता है, यद्यपि वे स्पष्ट रूप से यह नहीं बताते कि कैसे। परन्तु मुख्य बात यह है कि आपको प्रमाणीकरण को मात्र कुछ अनुभवों की शृंखला रूपी अनुभववादी माडेल के अनुसार नहीं समझना चाहिये। वह कोई भी रुख़, जैसा आप चाहें, ले सकता है। इसी कारण भाववादियों को आनुभविक वाक्यों तथा गणितीय वाक्यों में विभेद करना पड़ा।

फ.प. अथवा सामान्य रूप से आकारिक वाक्य...।

मा.ड. ...जिनमें बिल्कुल भिन्न प्रकार का अर्थ होता है। परन्तु जिस प्रकार की अवधारणा मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ उसके अनुसार एक क्षेत्र है। पूर्णतया प्रत्यक्षात्मक वाक्य हैं—यदि आप कह सकते हैं ऐसे कोई वाक्य हैं—जिनका सत्यापन प्रत्यक्ष से, बिना किसी माध्यम अथवा अनुमान के होगा। दूसरे छोर पर गणितीय प्रमेय जैसी कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिनका स्थापन शुद्ध रूप से तर्कणा के द्वारा होता है, तथा अधिकांश चीज़ें कहीं बीच में होती हैं। तो यह है सत्यापनवाद तथा यथार्थ-विरोधवाद के मध्य विभेद।

एक तरह से यह भेद इस बात पर निर्भर करता है कि आप 'सत्यापन' से क्या अर्थ लेते हैं? यदि 'सत्यापन' का अर्थ केवल यह है कि हम किसी कथन को सत्य या असत्य किस प्रकार स्थापित करते हैं तो मेरा शब्दार्थ-सिद्धान्त सत्यापनवादी है। बस मैं इस पर ज़ोर नहीं देना चाहता कि प्रत्येक कथन के संदर्भ में उसको निर्णायक रूप से सिद्ध करने का कोई तरीका है। मैं यह मानने को पूरी तरह तैयार हूँ कि कुछ कथन ऐसे हैं जिनको निर्णायक रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसे क़ेस सदैव ही होते हैं जहाँ कथनों को बाद में ख़ंडित किया जा सकता है, जहाँ इनका संशोधन सम्भव है। यह कुछ वाक्यों के अर्थ की विशेषता है कि उनको पुष्ट किया जा सकता है परन्तु निर्णायक रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता। आप चाहें तो इसे सामान्य अर्थ में सत्यापनवादी कह सकते हैं परन्तु अणुवादी अर्थ में नहीं और यह पूर्वनिर्णय किये बिना नहीं कि प्रमाणीकरण क्या रूप ले सकता है! मैं सोचता हूँ कि 'प्रमाणीकरण' एक बेहतर पद है। मैंने आरम्भ में 'सत्यापनवाद' का प्रयोग किया क्योंकि मैं लोगों को थोड़ा चौंकाना चाहता था। हर कोई कह रहा था, 'भाववाद का अब खण्डन हो गया है।' उनके पास इसके लिए कोई अच्छा तर्क नहीं था कि क्यों उसका खण्डन हुआ था! मेरे विचार में क्वाइन वे व्यक्ति थे जिन्होंने उसका खण्डन किया। अधिकतर लोग केवल यह जानते थे कि हम अब उसमें विश्वास नहीं करते हैं परन्तु उनके पास कोई तर्क नहीं था। अतः वे भौंचक हो गये। मैं कहना चाहता था कि उसमें ग़लत सत्यापनवादी अंश नहीं था बल्कि अणुवादी अंश था।

फ.प. क्या आप अब भी वैश्लेषिक/साँश्लेषिक के भेद को मानना चाहते हैं?

मा.ड. हाँ, मैं ऐसा मानता हूँ। मेरे ख़्याल से उसे पूरी तरह से छोड़ देना ग़लत है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फ.प. तो संक्षेप में, आप सोचते हैं कि एक कथन का अर्थ उसकी प्रमाणीकरण की दशाओं से निर्धारित या निश्चित होता है परन्तु इन दशाओं को अणुवादी तरीके से नहीं समझा जा सकता?

मा.ड. यह बिल्कुल सही है। इस सबके ऊपर मैं सोचता हूँ कि इन दशाओं में सामान्य रूप से अनुमान का पुट शामिल होगा। अतः भाषा एक तरह से भाषा पर निर्भर है।

फ.प. परन्तु यदि प्रमाणीकरण दशाओं को अणुवादी रूप में नहीं समझना है तो क्या तब उनको समग्र रूप में नहीं समझना चाहिये? किसी वाक्य को समझना सदैव परिधि की ओर जाने वाले अथवा परिधि से उस तक आने वाले किसी एक मार्ग पर कहीं स्थित वाक्यों पर निर्भर करेगा। क्या यह समग्रतावाद की ओर जाना नहीं है?

मा.ड. मैं ऐसा नहीं समझता। आप समग्रतावाद पर आते हैं यदि आप परिधि तथा केन्द्र के भेद को समाप्त कर देते हैं। ठीक?

फ.प. तो क्या आप परिधि तथा केन्द्र के भेद को वैश्लेषिक/साँश्लेषिक के भेद से अलग करना चाहते हैं?

मा.ड. मैं एक दिशा रखना चाहता हूँ। साफ है कि अनुमान दोनों दिशाओं में काम करता है। मैं शब्दार्थ की निर्भरता का एक ऐसा सम्बन्ध रखना चाहता हूँ जो केवल एक दिशा में जाये, क्योंकि मैं सोचता हूँ कि यदि समग्रतावाद सही है तो हम भाषा पूरी तरह से नहीं सीख सकते। मुझे निश्चित रूप से ऐसा लगता है कि यदि वह सही है तो हम उसका कार्य क्या है इसका सुव्यवस्थित वर्णन नहीं दे सकते। क्या मैं कुछ और कहूँ? वैश्लेषिक/साँश्लेषिक की काफी आलोचना प्राकृतिक भाषाओं में अवलोकित एक विशेषता से सम्बद्ध है, इसमें विशेषकर चालों की बहुत गुंजाइश है। यह निश्चय ही न्यायसंगत है। यदि आप शब्दार्थ का सुव्यवस्थित सिद्धान्त देना चाहते हैं तो आपको अर्थ को भाषा के विभिन्न शब्दों एवं संरचनाओं के बीच से गढ़ना होगा और शायद ऐसा करने का कोई एक ही तरीका नहीं है। यदि हमसे अर्थ की व्याख्या करने को कहा जाये, या यह व्याख्या करने को कि किसी अभिव्यक्ति के अर्थ को समझने के लिए किसी के लिए क्या जानना अनिवार्य है, तो हम शायद विभिन्न समानार्थक अभिव्यक्तियां देंगे। यह भाषा को समझने के लिए एक प्रकार का समग्रतावाद है। हमारे पास यह कहने का कोई सुस्पष्ट तरीका नहीं है इस शब्द या वाक्य का अर्थ हम नहीं जानते। दूसरी ओर इसकी तुलना फ्रेगे की सुदृढ़ योजना से कीजिये जिसमें प्रत्येक अभिव्यक्ति का पूर्ण रूप से निर्धारित अर्थ है। मेरे ख्याल से यह आदर्श है जिसकी ओर जब हमें आवश्यकता होती है हम जाने का प्रयास करते हैं और यह आवश्यकता हमें तब पड़ती है जब प्रमाण क्या है इस विषय में हमारे झगड़े या अनिश्चिततायें होती हैं। हम सिद्धान्तों की रचना करते हैं, और जब हम ऐसा करते हैं तब हमें इस या उस पद का अर्थ अथवा परिभाषा क्या होगी इसके विषय में सहमति बनानी होती है। अतः हम चीज़ों को व्यवस्थित करते हैं ताकि उनको फ्रेगे की योजना के निकट ले आयें।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अतः मैं यह नहीं कहना चाहता कि वैश्लेषिक-साँश्लेषिक विभेद एक ऐसा विभेद है जो हमारी भाषा पर, जैसी वह है, बिल्कुल निश्चयात्मक रूप से लागू होता है। इसलिए मैं नहीं सोचता कि वह फेंक देने वाली चीज़ है। इसके विपरीत वह ऐसी चीज़ है जिसका प्रयोग करने की हमें तब आवश्यकता होती है जब हम विरोधों को मिटाने अथवा जिन पर हम केवल अस्पष्ट रूप से विश्वास करते हैं उनके प्रमाणीकरणों को समझने का प्रयास कर रहे होते हैं।

फ.प. मैं भाषा-दर्शन एवं विचार-दर्शन के बीच विरोध की ओर वापस जाना चाहूँगा। हमने इस पर प्राथमिकता सिद्धान्त तथा वैश्लेषिक दर्शन की पहचान में उसकी भूमिका के संदर्भ में बातचीत की थी। लेकिन मैं चाहूँगा कि हम लोग पहले इसके सम्बन्ध में एक यथार्थ-विरोधवादी मनस्-दर्शन की सम्भावना की दृष्टि से बात करें। आपने कहा है कि किसी भाषा-पद (वाक्य, कथन) की सत्यता (या असत्यता) की अवधारणा की जड़ें कोई वक्ता एक निश्चय कथन करते समय जो कहता है उसके वस्तुगत रूप से सही या वस्तुगत रूप से ग़लत होने के भेद में निहित है।[24] यदि ऐसा है तो स्वीकारोक्ति की अवधारणा किसी न किसी रूप में सत्य की अवधारणा से अधिक मूलभूत है। अब यह कहना कठिन है कि हम बिना मनोवैज्ञानिक धारणाओं को लाये स्वीकारोक्ति की अवधारणा की संतोषप्रद व्याख्या कैसे कर सकेंगे—अवधारणाएँ जैसेकि विश्वास, इच्छा तात्पर्य इत्यादि।[25] अतः यदि स्वीकारोक्ति की अवधारणा सत्य की अवधारणा से अधिक मूलभूत है और हमें सत्य की अवधारणा का दार्शनिक विवरण देने के लिए स्वीकारोक्ति की अवधारणा की आवश्यकता है तो ऐसा लगता है कि हमें सत्य की अवधारणा की व्याख्या करने के लिए मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं का सहारा लेना पड़ेगा। क्या हमें ऐसा करना चाहिये?

मा.ड. मैं प्रश्न को समझ गया हूँ। पहले जिस मत का मैं समर्थन करता हूँ उसको स्पष्ट करने के लिए कुछ कहना चाहूँगा, जो कि इस प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं है। मुझे लगता है कि सही अथवा ग़लत स्वीकारोक्ति की धारणा सत्य की धारणा से अधिक पूर्वगामी है। लोगों के ऐसा कहने के दर्शनशास्त्र में बहुतेरे उदाहरण हैं 'उक्तियों के अमुक-अमुक रूप निश्चित सत्यता-दशाओं वाले कथन नहीं हैं।' लोग ऐसा सोपाधिक वाक्यों के लिए कहते हैं। उदाहरणतः हिल्बर्ट ने ऐसा अबद्ध परिमाणक वाले अंकगणितीय कथनों के बारे में कहा है। इस तरह, वे यह कह रहे हैं कि आपको उन उक्तियों की दावों के रूप में व्याख्या करनी होगी। यह सरलतम दृष्टान्तों में बिल्कुल स्पष्ट है। उदाहरण के लिए हिल्बर्ट की सत्ता परिमाणक कथनों की अपूर्ण संचारण के रूप में व्याख्या। मतलब यह है कि हमारे लिए उनका कथन उचित है यदि हम कोई उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। इस

24. ट्रुथ एण्ड अदर अनिम्माज़, पृ. xviii

25. उदाहरणस्वरूप देखिये ट्रुथ एण्ड अदर एनिम्मास, पृ. xvii)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दृष्टिकोण में प्रमुख भेद वस्तुगत सत्यता एवं वस्तुगत असत्यता में नहीं है। मुख्य भेद को इस बात से स्पष्ट किया जाता है कि हम क्या कर सकते हैं अथवा इसके द्वारा कि हम अपने दावों को प्रमाणित कर सकते हैं या नहीं। और यह एक सही बनाम ग़लत स्वीकारोक्ति की धारणा से पूरी तरह मेल खाता है।

इस दृष्टिकोण तथा किसी स्वीकारोक्ति में वस्तुगत सत्य-मूल्य मानने के बीच भेद यह है कि सत्यता-दशायें मेरी ज्ञानमीमांसीय दशा से, अर्थात् मैं जो कुछ कर सकता हूँ उससे, स्वतंत्र होंगी ही, जब तक कि कथन मेरे विषय में नहीं है। विचार यह है कि कथन इससे स्वतंत्र रूप से सत्य या असत्य होता है कि मैं उसे प्रमाणित कर पाता हूँ अथवा नहीं, जबकि दूसरे दृष्टिकोण में हम उसके विषय में केवल इस आधार पर सोचते हैं कि मैं जो दावा करता हूँ उसका पुष्टीकरण कर सकता हूँ या नहीं। मेरा यही तात्पर्य है जब मैं यह कहता हूँ कि स्वीकारोक्ति की धारणा एक तरह से जैसे एक रास्ते का नक्शा देती है जो हमें सत्य की अवधारणा तक ले जाता है। परन्तु सही रूप से तथाकथित सत्य की धारणा पर पहुँचने के लिए आपको और आगे जाना होगा। यह एक तरीके से इस दिशा में केवल एक शुरुआत मात्र है। सत्य की धारणा पर पहुँचने के लिए आपको पूछना होगा कि "मैं आख़िर इसको दावा करने की तरह क्यों नहीं ले सकता? मुझे इसको अपने से स्वतन्त्र कोई वस्तुगत मूल्यांकन क्यों देना पड़ता है?"

मेरे विचार से मुझे आपकी युक्ति में जिस चरण का खण्डन करना चाहिये वह है यह दावा कि स्वीकारोक्ति की मनोवैज्ञानिक रूप से व्याख्या करनी ज़रूरी है। मैं जानता हूँ कि एक समय था जब रसल तथा विट्गेन्स्टाइन दोनों ऐसा कहते, किन्तु मैं इसको नहीं मानता। मैं सोचता हूँ कि यह एक जटिल मामला है। हमारे पास स्वीकारोक्ति एक बाह्य क्रिया की तरह है। आप एक वाक्य चुनते हैं जिसे आपको स्वीकारोक्ति के रूप में समझना है, और जब आप किसी चीज़ को सत्य मानते हैं तो निर्णय करने की आन्तरिक क्रिया भी होती है। मेरे विचार से निर्णय को स्वीकारोक्ति की बाह्य क्रिया का आन्तरीकरण समझना बेहतर है बजाय इसका उल्टा समझने के, अर्थात् स्वीकारोक्ति को आन्तरिक अवस्था या आन्तरिक क्रिया की अभिव्यक्ति समझने से।

फिलॉसफिकल इन्वेस्टीगेशन्स् में कहीं पर एक सवाल उठाया गया है—'स्वीकारोक्ति का भाषा-खेल क्या है?' वास्तव में विट्गेंस्टाइन सोचते हैं कि स्वीकारोक्ति जैसी कोई एक चीज़ नहीं है। बहुत से और भिन्न-भिन्न संदर्भ होते हैं। परन्तु मैं सोचता हूँ कि फिर भी यह सवाल पूछना बिल्कुल ठीक है।

आदेश देना क्या होता है इसकी मनोवैज्ञानिक पदों में व्याख्या करने का हमें बहुत कम प्रलोभन होता है। साधारणतौर पर कहें तो आदेश देते वक्त यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के संदर्भ में प्रभुत्व की अवस्था में है तो आप सामान्य तौर पर यह मान लेते हैं कि वह चाहता है कि दूसरा व्यक्ति वही करे जिसको करने का उसने उसे आदेश दिया है। लेकिन आपको यह मानना ज़रूरी नहीं है कि उसको आदेश देने में उसके कोई दूसरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रेरक भी हो सकते हैं। सच यह है कि यदि वह वास्तव में प्रभुत्व की अवस्था में है तो वह मात्र आदेश दे रहा है और उसके कुछ प्रभाव हैं, फिर चाहे जिस वजह से उसने आदेश दिया हो। हमें जो करना है वह है आदेश के भाषा-खेल का वर्णन करना, और मेरे विचार से यह स्वीकारोक्ति के विषय में सच है। वहाँ यह उतना स्पष्ट नहीं होता क्योंकि परिणाम उस प्रकार से तीखे नहीं होते जिस प्रकार से आदेश देने के परिणाम होते हैं। इसकी वजह से उसका वर्णन करना अधिक जटिल हो जाता है। परन्तु मेरे ख़्याल में इसीको संवाद-वहन के भाषा-खेल का वर्णन मानना होगा जिसमें लोगों को कुछ चीज़ें बताना शामिल है, बजाय आन्तरिक अवस्थाओं के विषय में कुछ बताने के। अतः मैं नहीं मानता कि आपके लिए आशय या विश्वास को बीच में लाना ज़रूरी है, या यदि आपको आशय लाना ही है तो काफी बाद में।

फ.प. तो आपको ज़रूरत है स्वीकारोक्ति की भाषाई क्रिया के वर्णन मात्र की? और वह आप आशयों, विश्वासों, आकांक्षाओं एवं अन्य प्रतिज्ञप्तिमूलक अभिवृत्तियों को विचार में लिए बिना कर सकते हैं?

मा.ड. मेरी यही आशा है। मेरा मतलब है, यदि आप कहते हैं "ठीक, जाओ और ऐसा करो" तो मैं कुछ नहीं कर सकता। क्योकि यह शब्दार्थ के पूरे सिद्धान्त पर निर्भर करता है और मैं ठीक ठीक नहीं जानता कि ऐसा कैसे करूँ!

फ.प. तो मैं आपसे नहीं पूछूंगा। मैं आपसे कुछ और पूछूंगा। भाषा-दर्शन बनाम मनस्-दर्शन से सम्बद्ध मेरा दूसरा प्रश्न यथार्थवाद बनाम यथार्थ-विरोधवाद की बहस के विषय से सीधे सीधे सम्बन्धित है। यह बहस, आप जैसे सोचते हैं उस तरह से, केवल भाषाई चीज़ों (कथनों, वाक्यों) के बारे में नहीं हो सकती, मेरे विचार में कम से कम तीन कारणों से। सर्वप्रथम वह विश्वासों एवं विश्वास-अवस्थाओं के विषय में भी होनी चाहिये क्योंकि हम विश्वासों और विश्वास-अवस्थाओं का मूल्यांकन भी सत्यता एवं असत्यता के पदों से करते हैं। दूसरे, शब्दार्थ एक संज्ञानात्मक धारणा है। यह है जो कुछ भी एक योग्य वक्ता एवं कर्त्ता समझते हैं—या जानते हैं जब वे वाक्यों का अर्थ समझते हैं या जानते हैं कि वह अर्थ क्या है और यह प्रश्न कि अर्थ मानसिक रूप से कैसे प्रदर्शित होता है बहस के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। अन्त में यह निर्णय करने का प्रश्न इस प्रश्न से सीधा जुड़ा है कि सत्यता की धारणा का ज्ञानमीमांसीय रूप से सीमित होना अनिवार्य है अथवा नहीं, सत्य की धारणा जिसकी संरचना हम वैध रूप से करें अथवा न करें।

यह मान लेने पर कि बहस केवल भाषायी समझ के विषय में नहीं हो सकती, वह प्रत्यय-रचना के विषय में भी अनिवार्य रूप से होगी, क्या इसको मनस्-दर्शन में एक स्वतन्त्र बहस मानना, न केवल वाक्यों के अर्थ के विषय में बल्कि मानसिक सामग्री के विषय में भी, सम्भव नहीं होगा, चाहे अनिवार्य न भी हो?

मा.ड. कदाचित् मैं आपसे सहमत हूँ। मैं नहीं सोचता कि इस विषय का यथार्थवाद के सम्बन्ध में तत्त्वमीमांसीय विवादों पर बहुत प्रभाव है। हम लोग पहले प्राथमिकता सिद्धान्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के विषय में बात कर रहे थे। अब यदि कोई इवान्स अथवा पीकौक का अनुयायी है और सोचता है कि आपको हमारे विचारों के ढाँचे का उनकी भाषाई अभिव्यक्ति से स्वतन्त्र रूप से वर्णन करना होगा, तो यही भेद फिर भी उत्पन्न होगा। सत्यता-दशाओं के द्वारा वर्णन, विचार के सत्य होने के लिए दशायें क्या होनी चाहियें, अथवा इसे यूं कहें कि प्रमाणीकरण के द्वारा वर्णन, इस आधार पर कि क्या आप उसकी सत्यता को पहचान सकते हैं—के मध्य। अतः वहाँ भी वही प्रश्न उठता है जो कि इवान्स तथा पीकौक में साफ उठता है।

फ.प. क्या हम यह निष्कर्ष निकालें कि इसको मनस्-दर्शन में बहस मानने का कोई लाभ नहीं है?

मा.ड. मुझे नहीं लगता कि कोई लाभ होगा। जैसाकि आप जानते हैं मैं प्राथमिकता सिद्धान्त में विश्वास करता हूँ। इन दो मार्गों के मध्य भेद यह है कि मनस्-दर्शन वाले मार्ग का अथवा विचार-दर्शन के मार्ग का झुकाव सर्वाहम्वाद की ओर है। बात हो रही है ज्ञाता विशेषों की—कोई ज्ञाता विशेष किसी विचार को क्या विषय दे सकता है, वह कैसे पहचानता है कि विचार सत्य है, इत्यादि। और इसका, कम से कम सामान्यतया, संवाद-वहन से कोई खास लेना देना नहीं होता, जबकि मैं सोचता हूँ कि आपको एक अच्छा उत्तर नहीं मिलेगा यदि आप इसका विवेचन संचारण के पदों में नहीं करते। लेकिन यह एक लम्बा प्रश्न है।

फ.प. प्राथमिकता सिद्धान्त के सम्बन्ध में दो भिन्न प्रश्न हैं। एक प्रणाली-विषयक प्रश्न है और एक यथार्थवाद बनाम यथार्थविरोधवाद की बहस के विषय का। एक समस्या यह निर्णय लेने की है कि क्या विचार-दर्शन पर भाषा-दर्शन के द्वारा ही पहुँचा जा सकता है, अथवा व्याख्या के क्रम में भाषा विचार से पहले है कि नहीं? यह एक प्रणाली-विषयक प्रश्न है और यह एक बात है। दूसरा प्रश्न है यह निर्णय करने का कि बहस मानसिक अन्तर्सामग्री के विषय में भी है अथवा नहीं? इस अर्थ में तो वह स्पष्ट रूप से है कि यदि बहस इस पर है कि क्या वाक्य का अर्थ उसकी सत्यता-दशाओं से निर्धारित होता है, तो वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त विचार की सामग्री उसकी सत्यता-दशाओं से निर्धारित होती है कि नहीं यह जानने की समस्या भी बहस का हिस्सा है। अतः वास्तव में दो भिन्न प्रश्न हैं : प्रणाली विषयक प्रश्न तथा विषय सम्बन्धी प्रश्न। मुझे लगता है कि पहले पर जिस दृढ़ प्रणाली विषयक मत को आप चुनते हैं उसका दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं होता है। वे दोनों तार्किक दृष्टि से पृथक् हैं। अतः वैश्लेषिक दर्शन के मूलभूत स्वयंसिद्ध कथन के विस्थापन से कोई फरक नहीं पड़ता और अपने विचारों की सामग्री के प्रश्न से आरम्भ करना पूरी तरह उचित है। दूसरी तरफ अंततः हमारे सामने वही समस्याएँ आती हैं।

मा.ड. मैं सोचता हूँ यह बिल्कुल सच है। मेरे विचार में यह एक प्रणाली विषयक प्रश्न है। आपकी समस्याएँ वही रहती हैं और इसी कारण काफी हद तक, जैसाकि आप कहते हैं, विस्थापन वास्तव में इस तरफ और उस तरफ के लोगों के बीच संवाद में बहुत रुकावट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं डालता। लेकिन एक बिन्दु है जिस पर उनमें मतभेद है और उसका सम्बन्ध प्रणाली से है। वह यह है—विचार का दार्शनिक वाक्-विनिमय से सम्बन्धित किसी विषय पर बहुत ध्यान नहीं देगा जबकि स्पष्ट है कि भाषा व्याख्या के क्रम में पहले है। भाषा एक सामुदायिक चीज़ है। वह प्रथमतः संवाद का एक माध्यम है।

फ.प. क्या वह सामुदायिक चीज़ है इसी की वजह से आप प्राथमिकता सिद्धान्त को मानना चाहते हैं?

मा.ड. हाँ।

फ.प. लेकिन फ्रेगे में भी तो विचार सामुदायिक चीज़ है! कोई प्राथमिकता सिद्धान्त के पक्ष में इस आधार पर आसानी से तर्क दे सकता है कि उसमें मनोविज्ञानवाद से बचा गया है। लेकिन मनोविज्ञानवाद का दोष आख़िर और क्या है सिवाय यह मानने के कि विचार चेतना के प्रवाह का अंश है? मुझे लगता है कि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न तब यह निर्णय करने का है कि क्या गेडान्के तथा वॉरस्टेलुंग में सम्भ्रम अनिवार्य रूप से प्राथमिकता सिद्धान्त के खंडन से पैदा होता है? मान लीजिये हम इवान्स के सुझाव को, जिसका हमने पहले विवेचन किया था, मान लेते हैं। क्या हम इस तरह उस अर्थ में मनोविज्ञान कर रहे हैं जिस अर्थ में फ्रेगे तथा हुसर्ल ने उसकी आलोचना की है? क्या हमें ऐसा तर्क देना पड़ता है कि निर्दर्शित के विषय में जिस तरीके से सोचा जाता है विचार के स्तर पर उसका प्रस्तुतीकरण चेतना के प्रवाह का अंग है? चाहे फ्रेगे जैसे कारणों की वजह से ही, कोई कह सकता है—'हाँ, प्राथमिकता सिद्धान्त को मानने में कुछ अर्थ है। वह मनोविज्ञानवाद के दोषों से अच्छा बचाव प्रदान करता है।' लेकिन क्या अब वास्तव में गैडान्वो तथा वॉरस्टेलुंग के बीच की भ्रांति से बचना असम्भव है? क्या प्राथमिकता सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए इस भ्रांति से बचने के कोई रास्ते नहीं हैं?

मा.ड. निश्चय ही ऐसा कहना तो बहुत जल्दबाज़ी होगी कि 'आप जिस क्षण ऐसा करेंगे उसी क्षण मनोविज्ञानवाद में फँस जायेंगे।' मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ। परन्तु मेरे विचार से विचार के दार्शनिक के लिए प्रसंग-सिद्धान्त का आदर करना उतना ही ज़रूरी है जितना भाषा के दार्शनिक के लिए। इवान्स ने किसी निर्दर्शित के विषय में सोचने के खास तरीकों के विषय में जो कहा है तथा एकवचनीय निर्दर्शितों के एकवचनीय विचारों इत्यादि के विषय में जो कहा है यदि हम उसको मानते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि हम किसी वस्तुविशेष के विषय में जिस तरह सोचते हैं वह एक पूर्ण विचार का अंश है। किसी वस्तु के विषय में सोचने का तरीका कुछ ऐसा है जो एक सम्पूर्ण विचार का अंश है। उसके विषय में बात करना अर्थ-हीन है। उसको बाहर रख कर... ।

फ.प. उस प्रसंग में जिसमें वह स्थित है।

मा.ड. सही है, सम्बद्ध वस्तु के विषय में कुछ वस्तुस्थिति है, ऐसा सोचने के संदर्भ से स्वतन्त्र रूप से। आपको यह सवाल पूछना होता है "एक सम्पूर्ण विचार रखना क्या होता है?" जब तक कि आप उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में रुचि न रखते हों आप को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उसे एक प्रतिज्ञप्तिमूलक अभिवृत्ति के विषय के रूप में मानना होता है, जैसा कि स्वयं फ्रेगे ने किया था। यह किसी चीज़ में विश्वास करना या यह विश्वास करना होता है कि कुछ ऐसी स्थिति है जिसे प्रतिज्ञप्तिमूलक अभिवृद्धि की विषय-वस्तु होना होता है। पीकौक बिल्कुल यही करते हैं। वे सारा कुछ पहले उन अभिवृत्तियों को, जिनको एक ऐसा प्राणी जिसके पास शायद भाषा नहीं लेकिन फिर भी उन्हें अभिव्यक्त करता है, वर्णन करने की शक्यता पर निर्मित करते हैं।[26]

फ.प. तथा वे विचारों को फ्रेगे जैसे विचार : 'गेडान्केन' : मानते हैं।

मा.ड. वे बिल्कुल वैसे ही हैं और वे विश्वासों अथवा इच्छाओं के विषय अथवा दोनों में से एक के विषय होते हैं। मुझे अभी यह विश्वास नहीं होता कि इस तरीके का कार्यक्रम सफल होगा, लेकिन मैं निश्चय ही नहीं सोचता कि कोई उस पर सीधे सीधे मनोविज्ञानवाद का दोषारोपण कर सकता है। यदि कोई इन प्रतिज्ञप्तिमूलक अभिवृत्तियों का, विना उनकी अभिव्यक्ति के संदर्भ के, लक्षण-वर्णन कर सके तो यह कार्यक्रम सफल होगा। मैं नहीं सोचता कि पीकौक या किसी और ने वास्तव में ऐसा दिखाया है।

फ.प. आप मनस्-दर्शन के भविष्य के विषय में बहुत निराशावादी हैं। संज्ञानात्मक विज्ञान के विषय में आपका क्या ख़्याल है?

मा.ड. मैं संज्ञानात्मक विज्ञान के विषय में निराशावादी हूँ। मैं इन लोगों के विषय में निराशावादी नहीं हूँ। जॉन कैम्पबेल एक अन्य ऐसे व्यक्ति हैं जो विचारदर्शन की ओर जाते हैं। शुरुआत के लिए मैं निश्चित हूँ कि वे लोग अपनी जाँचों में बहुत कुछ नया खोज पायेंगे तब भी जब उनका सम्पूर्ण मूलभूत आधार ग़लत हो, तब भी जब उनका प्राथमिकता सिद्धान्त का विस्थापन ग़लत हो। वे जो खोज निकालेंगे वह बचा रहेगा और यदि वे प्राथमिकता सिद्धान्त पर वापस चले आते हैं हम इसको विचारों से भाषा में स्थानान्तरित कर सकेंगे। दूसरा, मैं सोचता हूँ कि यह देखना बहुत रोचक होगा कि उसको किस हद तक खींचा जा सकता है। एक कारण जिसकी वजह से वह बहुत रोचक है वह यह है कि यदि यह सब पूर्ण रूप से सफल होता है तो प्राथमिकता सिद्धान्त पूरी तरह से ग़लत होगा और उसका कोई महत्त्व नहीं रहेगा। लेकिन यदि यह ग़लत नहीं भी है तो यह देखना बहुत रोचक होगा कि इस थीसिस के खण्डन पर बनाया गया कार्यक्रम आख़िर कहाँ ले जा सकता है।

फ.प. और वह कितनी दूर तक जा सकता है।

मा.ड. वह निश्चित रूप से कितनी दूर तक जा सकता है, यह एक काफी अस्पष्ट ख़्याल है। फ्रेगे तक यह सोचते थे कि प्राथमिकता सिद्धान्त केवल हमारे सापेक्ष है। वे मानते थे कि भाषा-रहित प्राणी उन्हीं विचारों को समझ सकते हैं जिन्हें हम समझते हैं, वे केवल

---

26. देखिये उदा. स्व, क्रिस्टोफर पीकौक, थौट्स, एन ऐसे ऑन कन्टेन्द, बेसिल ब्लैक वेल, आ. सफोर्ड, 1986

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भाषा में अभिव्यक्ति से रहित होंगे। लेकिन उन्होंने इसकी कोई व्याख्या नहीं की कि वह किस तरह की चीज़ होगी। उन्होंने इसके विषय में केवल इतना कहा कि यह आत्मव्याघाती नहीं है। इसका क्या अर्थ है? यदि मनस्-दर्शन की ओर जाने वाले लोग सही हैं तो वे इसकी व्याख्या दे पायेंगे। यह केवल आपातिक तथ्य का मामला है—यदि यह किसी भी तरह तथ्य है तो—कि हम विचारों को भाषा के माध्यम से ग्रहण करते हैं। हमारे विषय में वह क्या है जो ऐसा सम्भव बनाता है? ये सारे प्रश्न सार्थक और बेहद रोचक हैं। मैं आशा करता हूँ कि वे कुछ स्पष्ट करेंगे।

फ.प. वैश्लेषिक दर्शन में भाषा-दर्शन की हानि करते हुए भी मनस्-दर्शन की ओर जाने की एक बलवती प्रवृत्ति है। यह काफी स्पष्ट है कि अमरीका में लोग इस दिशा में जा रहे हैं। मनस्-दर्शन का अधिक से अधिक प्रचलन हो रहा है।

मा.ड. मेरे ख़्याल से उसमें से बहुत कुछ निम्न स्तर का है।

फ.प. इस बिन्दु पर इंगलिश एवं अमरीकी दर्शनों के मध्य खाई ज़्यादा बड़ी होती जा रही है। ऐसा काफी हद तक अमरीका में संज्ञानात्मक विज्ञान के गहन प्रभाव के फलस्वरूप है।

मा.ड. मेरे ख़्याल से यह सच है और इससे मुझे बिल्कुल चिन्ता नहीं होती, क्योंकि मैं वास्तव में सोचता हूँ कि अमरीकी दर्शन ज़्यादातर एक बहुत ग़लत रास्ते पर है।

फ.प. आपका मतलब खासतौर से मनस्-दर्शन से है?

मा.ड. बेशक यह क्रिप्के अथवा पुटनम के बारे में सच नहीं है, और यह डेविड्सन के बारे में भी सच नहीं है। लेकिन सामान्य प्रवृत्ति इस प्रकार की विज्ञानमुखी दिशा की ओर है जो कि मुझे अनुपजाऊ प्रतीत होती है।

फ.प. आपका मतलब है जड़ तत्त्ववाद, भौतिकवाद आदि?

मा.ड. वही सब। वह (हमें) कहीं नहीं ले जायेगा।

फ.प. वह कम से कम एक चीज़ की ओर तो ले गया है। हम आज जिस अवस्था में हैं वह उस अवस्था के बिल्कुल विपरीत है जिसमें ब्रेन्टानो एवं हुसर्ल थे। वे साशयता को मानसिक का अप्रत्याख्येय सूचक मानते थे जबकि हम अपने आपको हाड़मांस का भौतिक प्राणी मानते हैं और हमें आश्चर्य होता है कि उसमें साशयता कैसे हो सकती है? कैसे मशीनों में, या जिनका भी पूर्ण रूप से भौतिक पदों में वर्णन किया जा सकता है उनमें, आशय एवं विचार हो सकते हैं? और हम साशयता की व्याख्या प्रकृतिवादी पदों में करने का प्रयास करते हैं।

मा.ड. ठीक है यह एक दार्शनिक प्रश्न है। परन्तु मैं सच में आशा करता हूँ कि इंगलिश दर्शन यूरोप में जो कुछ हो रहा है उसकी ओर कहीं अधिक उन्मुख होगा और अमरीका में जो हो रहा है उसकी तरफ कहीं कम। यह भाषा है जो बहुत से लोगों से ऐसा कराती है। अमरीकी पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों को पढ़ना अधिक आसान है। यह आश्चर्यजनक है। जोनाथन बार्नेस, केविन मुलिगन, पीटर सिमन्स इत्यादि बहुत से लोग अपने आपको विदेश में अध्यापन करने के लिए ढाल लेते हैं। बहुत कम स्नातक ऐसा करते हैं। ज़्यादातर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मेरे विचार में भाषा की वजह से। इससे हम स्कूलों में भाषा के शिक्षण पर वापस आ सकते हैं। शायद हमें स्नातक विद्यार्थियों के लिए भाषा के पाठ्यक्रम रखने चाहिएँ, यह अपेक्षा करनी चाहिये कि वे कम से कम एक यूरोपीय भाषा को अच्छी तरह सीख लें।

फ.प. अमरीका की दशा पर वापस आते हैं। यह उल्लेखनीय है कि उदाहरणस्वरूप आपके कार्य ने वहाँ ज़्यादा प्रभाव नहीं डाला है। बहुत कम लोग हैं जो उसको वास्तव में पढ़ने की इच्छा रखते हैं। पुटनम (उनमें से) एक हैं। ब्रायन लोर तथा पॉल हॉरविच, जो अमरीका में अध्यापन में रत हैं, भी उसका सावधानीपूर्वक अध्ययन करते हैं। गैरेथ इवान्स के विषय में भी यही स्थिति थी। कुछ ही अमरीकी दार्शनिकों ने उनको पढ़ने की कोशिश की है।

मा.ड. यह सच है। और मेरे विचार में यह बड़े दुःख की बात है। पुटनम इसके लिए आंशिक रूप से उत्तरदायी हैं। उन्होंने **वैराइटीज़ ऑफ रेफरेन्स** की एक बहुत नकारात्मक समीक्षा लिखी और उसको पूरी तरह से दर किनार कर दिया। मैं नहीं जानता उन्होंने ऐसा क्यों किया। यह एक गम्भीर रूप से ग़लत मूल्यांकन है। हो सकता है इसका अधिक प्रभाव न हुआ हो। हो सकता है यह एक लक्षण रहा हो न कि कारण। मैं नहीं जानता। परन्तु यह निश्चय ही सत्य है कि उन लोगों को इवान्स को पढ़ना चाहिये और यह (न पढ़ना) एक गम्भीर भूल है। उस किताब में कई रत्न हैं।

6. यथार्थ-विरोधवाद एवं नीतिशास्त्र

फ.प. मेरा एक आख़िरी सवाल है। यह नीतिशास्त्र के बारे में है। हो सकता है ऐसा कोई सुसंगत दार्शनिक सिद्धान्त, अभिमत या वेल्टेनशाउंग नहीं हो जिसको हम विश्वव्यापी यथार्थ-विरोधवादी कह सकें, किन्तु जो गणित तथा प्राकृतिक जगत् तथा दूसरों के मानसिक जीवन तथा नैतिककर्त्ता इत्यादि के विषय में यथार्थ-विरोधवादी हो।

मा.ड. ऐसा हो सकता है।

फ.प. लेकिन तथ्य यह है कि आपने कभी उस तरह के मत का समर्थन नहीं किया है। फिर भी किसी प्रदत्त श्रेणी के कथनों, जैसे कि गणितीय कथन, प्राकृतिक जगत् सम्बन्धी, दूसरों के मानसिक जीवन सम्बन्धी, नैतिक आदेशों सम्बन्धी कथन इत्यादि इत्यादि, के यथार्थवादी एवं यथार्थ-विरोधवादी मत अथवा भावार्थ के मध्य विवाद जैसे ही रूप वाले दार्शनिक विवादों का एक क्षेत्र पाया जाता है। यह बहस, जिस रूप में आप उसे समझते हैं और जिस रूप में उसे क्रिस्पिन राइट जैसे अन्य लोगों ने आप की तरह समझा है, निश्चित रूप से नीतिशास्त्र पर भी लागू होती है। मान लेते हैं कि नैतिक तथ्यों अथवा नैतिक मूल्यों के विषय में यथार्थवाद का प्रश्न उठता है। मेरा प्रश्न है : नीतिशास्त्र में यथार्थवाद को यथार्थविरोधवाद की चुनौती का रूप क्या होना चाहिये ?

मा.ड. चलिए मैं इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में रखता हूँ। नैतिक यथार्थवाद को अभिव्यक्त करने के कम से कम दो तरीके हैं—तथ्य-वाचक पदों में तथा मूल्य-वाचक पदों में।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तथ्य-वाचक पदों में उसका अर्थ निम्न होगा : वस्तुतगत नैतिक तथ्य हैं जो जगत् की संरचना का भाग हैं तथा नैतिक विचारणा का लक्ष्य उनकी ख़ोज करना है। चलिए मान लेते हैं कि 'दासत्व अन्याय है' यह एक वस्तुगत तथ्य है। अब हम नैतिक यथार्थवाद को मूल्यों के पदों में भी व्यक्त कर सकते हैं। तब नैतिक यथार्थवाद का अर्थ निम्न होगा : कुछ कर्मों, आचरणों या संस्थाओं को निश्चय ही अपनाना होगा अथवा इसके विपरीत उनकी आलोचना करनी होगी तथा उनको त्यागना होगा, इस आधार पर कि वे ऐसे मूल्यों को पोषित करते हैं जिनको स्वीकार करना अथवा इसके विपरीत उनको अस्वीकार करना हमारे लिए वस्तुगत रूप से न्यायसंगत है। नैतिक विचारणा का लक्ष्य यह खोजना है कि हमें किन मूल्यों को अवश्य ही अपनाना और किनको अवश्य ही अस्वीकृत करना होगा, और जब हम यह खोज निकालते हैं तो हम किसी वस्तुगत तथ्य की खोज कर लेते हैं। दासत्व के उदाहरण की ओर वापस चलें। एक यथार्थवादी अपने दृष्टिकोण को यह तर्क देकर अभिव्यक्त कर सकता है कि दासत्व से जुड़ी संस्थाओं और आचरणों से सम्बद्ध मूल्यों को समाप्त करना होगा और जिन कारणों की वजह से हमें ऐसा करना होगा वे वस्तुगत कारण हैं। नैतिक विचारणा का उद्देश्य उन सभी मामलों में निर्णय ले सकने में समर्थ होना है जो दासत्व से कम स्पष्ट हैं, उदाहरण के लिए सुख, मृत्यु अथवा गर्भपात।

मुझे ऐसा लगता है कि नैतिक यथार्थवाद के विपक्ष में कोई यथार्थ-विरोधवादी तर्क, जिसकी तथ्यों के माध्यम से व्याख्या की गयी है, वह किसी न किसी रूप के असंज्ञानवाद के समर्थन में एक तर्क होना चाहिये। यदि मैं सही हूँ तो एक यथार्थविरोधवादी को यह तर्क देना चाहिये कि नैतिक दावे इस अर्थ में संज्ञानात्मक रूप से खाली हैं कि हम नैतिक तथ्यों का कथन नहीं कर सकते। ऐसे कोई (तथ्य) हैं ही नहीं जिनकी खोज की जाये। मैं आपसे जो प्रश्न पूछना चाहता हूँ वह निम्न है : नैतिक यथार्थवाद के विरुद्ध एक यथार्थविरोधवादी तर्क का, जिसकी मूल्यों के पदों में व्याख्या की गयी है, उसका स्वरूप क्या होगा? क्या एक यथार्थ-विरोधवादी के लिए सापेक्षवाद के किसी न किसी रूप का समर्थन करना और यह तर्क देना ज़रूरी है कि हमारे कर्म, आचरण, संस्थायें या तो न्यायसंगत हैं अथवा अन्यायपूर्ण? कुछ संस्कृति की सापेक्षता-आधारित विश्वासों में, जो कह सकते हैं हमारे औचित्यीकरण की पृष्ठभूमि की दशाओं की रचना करते हैं, जिसकी वजह से हमारे समस्त नैतिक औचित्यीकरण इत्यादि एक दृढ़ और न छोड़े जा सकने वाले अर्थ में पूर्वाग्रह से ग्रसित होने से बच नहीं सकते। क्या आप नीतिशास्त्र के लिए किसी न किसी रूप के यथार्थ-विरोधवाद का समर्थन करना चाहते हैं? यदि हाँ तो यह दृष्टिकोण क्या है और आज हम इसका समर्थन किस प्रकार करने का इरादा रखते हैं?

मा.ड. मैं आपको उत्तर देने का भरसक प्रयास करूँगा। मैं आपको केवल एक कार्यक्रममूलक उत्तर दे सकता हूँ क्योंकि मैं शर्मिन्दा हूँ यह कहते हुए कि मैंने इसके विषय में सोचने में समय नहीं लगाया है। ऐसा नहीं है कि मैं यह सोचता रहा हूँ कि ऐसा करे बिना भी काम अच्छे से चलेगा। बस मैंने इसके विषय में बहुत सोचा नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कम से कम मुझे ऐसा लगता है कि नीतिशास्त्र पर इन यथार्थविरोधवादी अवधारणाओं के प्रयोग को बहस के मुद्दों को निम्न कारणों की वजह से बदलना चाहिये। जिस तरह के यथार्थविरोधवाद की मैं संकल्पना करता हूँ वह किसी भी प्रकार का आत्मनिष्ठवाद नहीं है। वह पूरी तरह से वस्तुनिष्ठवाद है या वह वस्तुगतता को इस अर्थ में मान कर चलता है कि एक कथन प्रमाणित है अथवा नहीं यह एक वस्तुगत बात है। ज़रा गणित के केस के विषय में सोचिये। आपके पास किसी कथन का प्रमाण है अथवा नहीं यह एक वस्तुगत मामला है। हम यह बात नहीं कर रहे हैं कि कथन किसी स्वतंत्र नैतिक सत् के विषय में सत्य है कि नहीं। हम एक दावा करने के विषय में बात कर रहे हैं जिसका प्रमाणीकरण वस्तुगत रूप से सही या वस्तुगत रूप से ग़लत है। यदि कोई नीतिशास्त्र के विषय में इस अर्थ में यथार्थ-विरोधीवाद जैसे किसी दृष्टिकोण को अपनाता है तो उसके एक आत्मनिष्ठवादी दृष्टिकोण होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे विचार से उसको असंज्ञानवादी कहना भी ग़लत होगा। प्रमाणीकरण एक संज्ञानात्मक पुष्टीकरण का मामला है। दूसरी ओर यह नहीं सोचना चाहिये कि नीतिशास्त्र की आत्मनिष्ठवादी व्याख्या का एकमात्र विकल्प नैतिक कथनों का एक प्रकार का ऐसा यथार्थवादी चित्र है जैसे कि वे हमसे स्वतंत्र रूप से सत्तावान् एक यथार्थ का वर्णन करते हैं या ऐसे कथन करते हैं जो वस्तुगत रूप से सत्य या असत्य हैं। ऐसे कथनों की व्याख्या को इस बात को स्पष्ट कर सकने में समर्थ होना होगा कि जो व्यक्ति ऐसे कथन करता है वह सिद्धान्ततः उनका पुष्टीकरण करने में समर्थ है। इस बात की खोज करनी होगी और मैं नहीं बता सकता कि हमें किस विशिष्ट प्रकार के प्रमाणीकरण के उपलब्ध होने की आवश्यकता पड़ेगी, किस प्रकार का पुष्टीकरण एक नैतिक कथन का पुष्टीकरण होगा।

फ.प. विशेषकर एक मूल्यात्मक कथन का।

मा.ड. ठीक। अब मैं कोशिश नहीं करूँगा। परन्तु यदि आप देखना चाहते हैं कि नैतिक यथार्थविरोधवाद कैसा लगेगा तो आपको इसी दिशा में जाना होगा। मेरा आशय है वह शायद एक बीच का दृष्टिकोण होगा।

फ.प. शायद विगिन्स के मत से मिलता-जुलता। विगिन्स नैतिक दावों के सम्बन्ध में ऐसे अल्प निर्धारणयुक्त संज्ञानवाद का समर्थन करना चाहते हैं[27] जो यथार्थवाद का नैसर्गिक मित्र है। आप ईश्वरवाद के विषय में **द लाजिकल बेसिस ऑफ मेटाफिज़िक्स** के बिल्कुल अन्त में बात करते हैं।[28]

---

27. देखिये नीड्स, वैल्यूज़, ट्रुथ, बेसिल ब्लैक वेल, ऑक्सफोड, 1987, विशेषकर पृ. 124-132

28. 1976 के हार्वर्ड विलियम जेम्स व्याख्यानमाला का संशोधित संस्करण अब **द लॉजिकल बेसिस ऑफ मेटाफिज़िक्स**, डक्वर्थ लन्दन से 1991 में प्रकाशित हुआ है। ईश्वरवाद के विषय में टिप्पणी अध्याय 15, पृ. 348-51 पर द्रष्टव्यं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मा.ड. बहुत ज़्यादा नहीं।

फ.प. हो सकता है, परन्तु आप ऐसा सुझाव देते हैं न कि ईश्वरवाद यथार्थवाद का नैसर्गिक सहयोगी नहीं है?

मा.ड. मैं इस तरह का तर्क देना चाहूँगा। हो सकता है यह ठीक न लगे परन्तु चलिए मैं प्लेटो एवं उस पुरानी उभयापत्ति की ओर वापस जाता हूँ कि 'क्या कुछ शुभ है क्योंकि ईश्वर उसका संकल्प करता है', अथवा 'क्या ईश्वर उसका संकल्प करता है इसलिए वह शुभ है?' ए.जे. एयर यह तर्क देने को बहुत उत्सुक थे कि इस प्रश्न का दूसरा भाग वास्तव में एक अवैध सुझाव है। अतः ईश्वर नैतिक निर्णय के लिए अप्रासंगिक है। इसके विपरीत विट्गेन्स्टाइन प्रथम विकल्प का ज़ोरदार समर्थन करते हैं तथा दूसरे को पूरी तरह से सतही बताते हैं। अब मुझे लगता है कि बेशक यदि कोई यह विश्वास करता है कि हम एक खास तरह से कार्य करें तो यह अपने आप में उस तरह से कार्य करने का पर्याप्त आधार है। परन्तु तब आपको ईश्वर की इच्छा क्या है यह जानने के किसी न किसी माध्यम विशेष का सहारा लेना पड़ेगा। जबकि पारम्परिक मत यह रहा है कि हम यह जान सकते हैं कि क्या उचित है तथा क्या अनुचित और उससे निगमित कर सकते हैं कि ईश्वर हमें क्या करने का आदेश देता है। मुझें इतना ही कहना है कि मेरे विचार से हमारे तर्क की दिशा अवश्य ही दूसरे विकल्प के अनुसार होनी चाहिये।

फ.प. मेरा ख़्याल है हम लोगों ने काफी लम्बे समय तक बातचीत कर ली है। हम लोग यहाँ रुक सकते हैं। आपको बहुत-बहुत धन्यवाद।

मा.ड. धन्यवाद। अपनी बहस में मुझे बहुत आनन्द आया।

* हिन्दी अनुवाद-लेखन में सहायता के लिए अनुवादक कु. रश्मि रावत के आभारी हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन – वर्ष 13-अंक 1
जनवरी, 1999

पुस्तक-समीक्षा

आस्था पुरुष, लेखक प्रो. सिद्धेश्वरप्रसाद, प्रकाशक नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1998, मू. 150/-, पृ. सं. viii+180

ऐसी कोई भी पुस्तक जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में गाँधीजी के चरित अथवा कृतित्व से सम्बन्धित हो, मानव तथा सामज की किन्हीं मूलभूत समस्याओं से टकराने का निमित्त बनती है। प्रोफेसर सिद्धेश्वरप्रसाद की **आस्था पुरुष** एक ऐसी ही कृति है। सर्व-सेवा-संघ, वाराणसी से लगभग 16 वर्ष पूर्व 1982 में उनकी **ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्** पहले ही प्रकाशित हो चुकी है। उसकी भूमिका को उन्होंने जो शीर्षक दिया वह था 'नास्तिकः सत्यहिंसकः'। **आस्था पुरुष** की भूमिका का शीर्षक है 'लोकशक्तिरेव जयते।' उनका मानस है कि अपनी अगली कृति की भूमिका का शीर्षक वे 'आत्मानं विद्धि' देंगे। (vii,viii) इन तीनों को वे श्रुति, स्मृति तथा विज्ञान-त्रयी कहते हैं। (viii) (यह ध्यातव्य है कि अपनी कृति **प्रश्नविज्ञानोपनिषद्** को भी वे श्रुति, स्मृति और विज्ञान की 'सहसाधना की त्रिवेणी' कहते हैं। (देखे उनकी इस कृति की भूमिका, पृ. 10) क्या इस कथन से यह समझा जाय कि किसी रूप में वे ऋषि, धर्मज्ञ तथा वैज्ञानिक की भूमिकाओं का निर्वाह कर रहे हैं? क्या मन्त्र, धर्म तथा वैज्ञानिक नियम को लेकर किसी एक ही दिशा का निर्देश अभिप्रेत है? यदि ऐसा है तो वह एक अनोखी बात होगी। उस अवस्था में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग साधारण प्रयोग से भिन्न होगा।

समीक्ष्य पुस्तक **आस्था पुरुष**, जो गांधीजी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व से सम्बद्ध है, एक ऐसे केक के समान है जिसे जहां भी काटा जाय वह मीठा ही निकलता है। पुस्तक में यदि विभिन्न अध्यायों को अलग-अलग शीर्षक नहीं भी दिये जाते तो भी चलता। लगभग प्रत्येक अध्याय में जो सार तत्त्व की बातें हैं वे, ऐतिहासिक सन्दर्भों को छोड़ कर, समान हैं।

पुस्तक का मूल कथ्य तीन मान्यताओं पर आश्रित प्रतीत होता है। प्रथम, यदि भारतीय परम्परा को उसके रूढ़िगत पक्ष से अलग कर तत्त्व रूप में ग्रहण किया जाय तो उसमें ऐसे घटक मिलेंगे जो व्यक्ति, समाज तथा संस्कृति को एक उत्कृष्ट दिशा दे सकते हैं और साथ ही व्यक्ति एवं समाज में व्याप्त असंगतियों, कुरीतियों तथा भ्रष्टाचरण को दूर कर सकते हैं। यहां यह प्रश्न उठता है कि रूढ़ि तथा तत्त्व में भेद का क्या आधार होगा? इस सन्दर्भ में प्रसाद जी **वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, महाकाव्यों, गीता, रामचरितमानस** की ओर तथा विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, स्वामी दयानन्द, राधाकृष्णन् आदि के विचारों की ओर संकेत करते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं "होमर, फिरदौसी, दांते, गेटे, रूमी, शेक्सपीयर, टालस्टाय आदि महान लेखक तो हैं परन्तु इनमें से किसी ने अपनी परंपरा की प्रकृति का वाल्मीकि और व्यास की तरह निर्धारण नहीं किया। **रामायण**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और महाभारत भारतीय जीवन के ऐसे अभिन्न अंग बन गये हैं कि राम और कृष्ण के बिना इस जीवन-प्रवाह की चर्चा तक संभव नहीं है। महात्मा गांधी के जैसा कोई युग-पुरुष हो या गांव की मेढ़ पर घास छीलने वाला कोई घसियारा सबके लिए रामायण और महाभारत आज भी उतने ही प्रासंगिक और सार्थक हैं।"(12) महाकाव्यों की लोकप्रियता को सिद्ध करने के निमित्त वे दूरदर्शन पर उनके प्रसारण के प्रति रुचि का उदाहरण देते हैं। यहां एक बात ध्यान देने की यह है कि पिछले कुछ समय से **श्रीकृष्ण** का प्रसारण उतनी ही सीमा में लोगों को आकर्षित नहीं कर पाया है जितना **महाभारत** का प्रथम प्रसारण कर पाया था। दूसरी बात यह है कि यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि किस अंश में किस रूप में जन-जीवन इन **महाकाव्यों** से प्रभावित है तो यह जांच का एक रोचक विषय बनेगा। इन **महाकाव्यों** का पटल इतना व्यापक है तथा उनमें कथ्यों की इतनी विविधता है कि इतना ही कहना कि वे भारतीय जीवन के अभिन्न अंग हैं, अधिक जानकारी बढ़ाने वाली बात नहीं होगी। यदि पढ़े लिखे लोगों के यहां **महाकाव्यों** या केवल **गीता** की ही विद्यमानता के विषय में सूचना एकत्र करें तो वह उत्साहवर्धक नहीं होगी। हां, मोटे रूप में राम और कृष्ण के प्रसंग अत्यन्त व्यापक रूप में जाने जाते हैं, हमारी तिथियां और त्यौहार इन प्रसंगों को दृढ़ संस्कार देते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में भी यह एक रोचक शोध की बात होगी कि ये त्यौहार इसी रूप में भारत के किन भागों में तथा कब से मनाए जाते हैं।

भारतीय परम्परा से सम्बन्धित दूसरी मान्यता यह है कि गांधीजी ने इस आध्यात्मिक परम्परा को उसके तात्त्विक घटकों के रूप में आत्मसात् किया तथा इसके अनुरूप आत्मसर्जन से प्राप्त शक्ति के फलस्वरूप ही अपनी चमत्कारी भूमिका का निर्वाह किया। गान्धीजी के **कम्प्लीट वर्क्स** से लिए अनेक उदाहरणों में से प्रसाद जी गांधीजी की 1934 में लिखी 'सेवक की प्रार्थना' का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं। यद्यपि प्रसाद जी ने भारतीय परम्परा के अतिरिक्त रस्किन, सुकरात आदि के प्रभाव का भी उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने रायचन्द्र जी का कोई उल्लेख नहीं किया जिनके माध्यम से गांधी जी ने जैन तत्त्वों को, विशेषकर अहिंसा, त्याग एवं आत्मसंयम को समझा और आत्मसात् किया।

तीसरी मान्यता पाश्चात्य सभ्यता और उसके भौतिकवादी पक्ष के दुष्प्रभाव को लेकर अनेक सन्दर्भों में प्रकट होती है। इस सन्दर्भ में प्रसाद जी की दृष्टि ऐसे अनेक प्रबुद्ध वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है जो आधुनिक समस्याओं एवं अवस्थाओं, मानवीय एहसास में बढ़ती हुई कमी, बढ़ते हुए उपभोक्तावाद, शोषणवृत्ति आदि के लिए पश्चिमी सभ्यता, वैज्ञानिक विकास, प्रौद्योगिकी, बौद्धिक झुकाव तथा राजनैतिक सत्ता की लालसा को एकसाथ रखकर सामूहिक रूप में दोषी मानते हैं। ये वर्ग या तो भारतीय संस्कृति को एक ऐसे रूप में लेते हैं जो इस अर्थ में शुद्ध है कि उस पर किसी अन्य संस्कृति का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा तथा जो समस्त दुर्गुणों से मुक्त है या ये वर्ग विकास की उस दिशा से चिन्तित हैं जो भविष्य की चिन्ता किये बिना प्राकृतिक संसाधनों को दूहने पर निर्भर है, अथवा ये वे वर्ग हैं जो धर्मध्वज को उठाते हुए वैज्ञानिक सोच को किसी न किसी रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में आसुरी प्रवृत्ति के प्रभाव के रूप में देखते हैं। गांधीजी के हिन्द स्वराज में पाश्चात्य सभ्यता की तीखी आलोचना मिलती है, जिसमें मानवीय कल्याण की भावना मूल प्रेरणा जान पड़ती है। परन्तु इन सभी आलोचनाओं में कुछ छानबीन की आवश्यकता है—यह मानने पर भी कि किसी अंश में उनमें कुछ सच्चाई है।

प्रथम दो मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए मूलतः दो प्रश्न उपस्थित होते हैं : प्रथम, यदि हमारे देश की आध्यात्मिक परम्परा अति समृद्ध तथा सशक्त रही है तब आज हम उससे इतने दूर क्यों हो गए हैं? दूसरे, यदि गांधीजी का चरित्र इस परम्परा का अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करता है तब ऐसा क्यों हुआ कि इस देश में एक समय के बाद उन्हें लगभग भुला दिया गया? जहां तक आस्था पुरुष का सम्बन्ध है, उसके लिए यहां हम इतना ही कहेंगे कि इनका उत्तर प्रसाद जी तीसरी मान्यता के सहारे देते हैं, यद्यपि इतना कहने से हमें पुस्तक में वर्णित उन अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों तथा अनेक प्रश्नों पर प्रसादजी के महत्त्वपूर्ण विचारों का पता नहीं चलता जिनसे पुस्तक का महत्त्व और रोचकता बढ़ी है।

इस समीक्षा में हम उपर्युक्त मान्यताओं तथा समस्याओं के विषय में कुछ बिन्दुओं पर विचार करेंगे।

इस बात की ओर अनेक विचारकों ने इशारा किया है कि हमारी आध्यात्मिक परम्परा व्यक्ति को ऐहिक तथा सामाजिक सरोकारों से विमुख करती है। इसका एक परिणाम होता है सामाजिक जीवन में असंगतियों तथा कुरीतियों का बना रहना। एक दूसरी बात यह होती है कि इस परम्परा के कारण जीवन में एक दोहरापन उत्पन्न हो जाता है। इस विषय में कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा की यह समझ ग़लत है। ब्राह्म स्थिति या जीवन-मुक्ति प्राप्त करने के प्रयास के साथ सर्वभूतहित, लोक-संग्रह, कर्त्तव्यनिर्वाह (स्वधर्म-पालन) भी भारतीय दृष्टि के अंग रहे हैं। (3-4) परन्तु प्रसाद जी यह भी मानते हैं कि देश में सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक-प्रशासनिक-वैचारिक संरचना हमारी दैवी सम्पदा के अनुरूप बन नहीं पाई। वे लिखते हैं : "शिव ने विकलांगों, राम ने भालू-बन्दरों और कृष्ण ने ग्वाल-बालों की सेना बनाकर विजय तो पायी परन्तु समाज की संरचना वही रही। अभिमन्युओं के वध होते रहे, एकलव्यों के अंगूठे कटते रहे, शम्बूकों को तप से विरत करने के लिए तलवार की धार तेज़ की जाती रही, सीता का निर्वासन और अग्नि-परीक्षा होती रही, भरी सभाओं में द्रौपदियों के चीरहरण भी होते रहे।"(49) अन्यत्र उन्होंने यह संकेत भी दिया है कि कैसे पुरुषसूक्त का विराट् पुरुष क्रमशः 'वामन' में परिवर्तित हो गया। भारतीय समाज उत्तरोत्तर संकीर्ण से संकीर्णतर होता गया। (33, देखें 34 भी)

लगता है मोक्ष तथा ब्राह्म स्थिति को प्राप्त करने की बात ग्रन्थों में ही रह गई और दुःख, पीड़ा तथा कष्ट से बचने को जो रास्ता सुझाया गया था, अर्थात् लोभ-मोह-काम-क्रोध आदि पर जय प्राप्त करना, उसकी अवहेलना होती रही। सत्ता की चाह तथा उससे उपजी (जिसे प्रसादजी ने बढ़िया नाम दिया), इन्द्र-ग्रन्थि जो पहले इन्द्र तक सीमित थी, अब सर्वत्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्याप्त दीखती है। अध्यात्म तो "स्व-जन के प्रति आत्म-भाव का परजन के लिए आत्म-भाव के रूप में विस्तार है। यह प्रेम-भाव का विस्तार है।"(36) इन्द्र-ग्रन्थि तथा पुरुषसूक्त की भ्रष्ट व्याख्या जैसे नकारात्मक घटकों की ओर इशारा करते हुए भी व्यक्तिपरक स्वार्थ-प्रवृत्ति, सत्ता की भूख, अन्याय और शोषण आदि के लिए प्रसाद जी पाश्चात्य दृष्टि तथा पाश्चात्य सभ्यता को उत्तरदायी मानते हैं।

प्रसादजी का मानना है कि व्यक्ति-जीवन तथा जन-जीवन में साहित्य की सशक्त तथा मौलिक भूमिका है। वे मानते हैं "साहित्य का प्रयोजन मानव-मन को दुर्बल और कातर नहीं सबल और साहसी बना उन पर विजय पाने के लिए प्रेरित करना है, जीवन के यथार्थ के नाम पर मनुष्य के स्खलन और पतन की ही नहीं उसकी दृढ़ता और उत्थान की कथा भी प्रस्तुत करना है, उसके मन को पशु-तुल्य नहीं बल्कि देव-तुल्य बनाने के लिए अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और उद्भावनाशक्ति से नित नूतन अवसर प्रदान करना भी है।"(19, देखें 23=4, 74 भी) परन्तु स्वतन्त्र भारत में इस प्रकार का साहित्य नहीं रचा गया। (क्या प्रसादजी की यह टिप्पणी स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य के विषय में जल्दबाज़ी में दिया गया निर्णय नहीं है?)

प्रसादजी साहित्य के इस अभाव का प्रमुख कारण पश्चिम की विचार-प्रवृत्तियों का अनुकरण मानते हैं। (23-24) उनकी दृष्टि में यही कारण है कि स्वतन्त्रता के बाद के साहित्यकारों का ध्यान गांधी चरित की ओर नहीं गया, उससे उन्होंने कोई प्रेरणा नहीं ली। प्रसाद जी मानते हैं कि **रामायण** तथा **महाभारत** का जो भाव भारतीय चेतना में पाया जाता है उसका श्रेय वाल्मीकि तथा व्यास को जाता है। गांधीजी की दृष्टि तथा सत्यप्रयोगों को प्रेषित करने वाला कोई वाल्मीकि या व्यास सदृश साहित्यकार होता तो भारतीय चेतना में अपेक्षित परिवर्तन आता। जो आस्था राम तथा कृष्ण में बनी रही वह गांधी में नहीं बन पायी। यहां प्रसादजी को यह शर्त भी लगानी चाहिए थी कि जो कवि गांधी-चरित लिखेगा उसे अपनी साधना तथा सर्जन सुदूर किसी ग्राम-कुटिया में बैठकर करना होगा।

विचित्र बात है कि प्रसाद जी यह मानते हैं कि समृद्ध साहित्यिक-आध्यात्मिक परम्परा के रहते हुए भी वास्तविक जीवन में उसके व्यतिक्रम ही अधिक देखे जाते रहे हैं। तब स्वतन्त्र भारत में एक विशेष दशा में रचित साहित्य का अभाव मात्र आज के मनुष्य के पतन का कारण कैसे हो सकता है?

पाश्चात्य दुष्प्रभाव में अंगभूत दो और घटकों का उल्लेख हमें इस पुस्तक में मिलता है। एक ओर तो प्रसाद जी यह मानते हैं कि विज्ञान सत्य की खोज का आग्रही है (68), वे यह भी लिखते हैं कि "प्रयोगधर्मिता के कारण एक ओर गांधी-चिन्तन आधुनिक विज्ञान के समकक्ष है..."(16) और दूसरी ओर उनका विचार है कि वैज्ञानिक समझ नैतिक मूल्यों से विहीन है और इसलिए उसका कोई महत्त्व नहीं है।(83) दूसरी बात वे यह कहते हैं कि पाश्चात्य जीवनदृष्टि में बुद्धि सर्वोपरि है तथा भाव-पक्ष के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। एक पाश्चात्य विद्वान का हवाला देते हुए वे ऐसी दृष्टि को व्यक्तित्व के लिए हानिकारक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानते हैं। (73) वे चाहते तो इमैनुएल कान्ट को उद्धृत करते हुए यह भी कह सकते थे कि शुभ-संकल्प-रहित स्वास्थ्य, बल, बुद्धि कुछ भी शुभ नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि विशेष सन्दर्भ में इन बिन्दुओं में कुछ सार्थकता है परन्तु उन्हें सामान्यरूप में नीतिगत सिद्धान्त मान लेना, अथवा आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना हमें उसी दुश्चक्र में फँसा सकता है जिनसे बचने के लिए उपर्युक्त आलोचनाओं का कोई महत्त्व हो सकता है। वस्तुतः विज्ञान स्वतः न पश्चिम की बपौती है न पूर्व की। सत्य और ज्ञान के प्रति निर्मल लगाव ही विज्ञान का उत्स है। वैज्ञानिक पद्धतियां और वैज्ञानिक चिन्तन, जिनका कोई स्थिर अथवा अपरिवर्तनीय रूप नहीं है, वे इस रूप में ही पहचाने जाते हैं कि वे हमें अपने पूर्वाग्रहों से, अपने संकुचित सरोकारों से तथा अहं के प्रभावों से मुक्त रखते हुए तटस्थ रूप में हमें अपनी खोज में सहायक होते हैं। यह तो ऐतिहासिक आकस्मिकता है कि वैज्ञानिक खोजें पृथ्वी के किसी एक भाग में हुईं अथवा अन्य भाग में।

विज्ञान का मूल्य-निरपेक्ष होना—चाहे ये मूल्य आध्यात्मिक हों, नैतिक हों अथवा व्यावहारिक—विज्ञान की कमी या दोष न होकर उसके क्षेत्र की सीमा को निर्धारित करता है। गांधी जी विज्ञान की नहीं अपितु उसके रास्ते विकसित टैक्नॉलोजि की आलोचना करते हैं। वह भी ऐसी टैक्नॉलॉजि को लेकर जो समाज के एक बड़े भाग को अपने लाभ से वंचित रखती है। उन्होंने वैज्ञानिकों का इस बात के लिए आह्वान किया कि वे ऐसी टैक्नॉलॉजि दें जो गांवों में पहुँचे, जो मनुष्य से उसकी आत्मनिर्भरता को न छीने, जो सभी के हित में हो। यह फिर भी कहना होगा कि **हिन्द स्वराज** में रेल के विषय में उनकी आलोचना तर्कसंगत नहीं थी—यदि संचार-साधन बुराई फैला सकते हैं तो वे अच्छी बातों का प्रसार भी कर सकते हैं। उन्होंने स्वयं भारत के कोने-कोने में जाकर देश को स्वतः जानने तथा लोगों तक पहुँचने का कार्य किया और इसमें उन्होंने रेल-यात्रा का ही सहारा लिया।

बुद्धि तथा भावना का सम्बन्ध एक विशेष सन्तुलित बोध की अपेक्षा रखता है। यह बोध अन्ततः बुद्धि पर ही आश्रित है। विज्ञान तथा टैक्नालॉजि में भेद के सदृश साधनपरक बुद्धि तथा साध्यपरक बुद्धि में भेद करना ज़रूरी है। केवल साधनपरक बुद्धि दिशाहीन होती है। उसका विवेकसम्मत उपयोग या प्रयोग साध्यपरक बुद्धि पर निर्भर होता है। प्रसादजी स्वयं अहं तथा आत्म-भाव में भेद करते हैं और आत्म-भाव के निमित्त अहं के विसर्जन को आवश्यक मानते हैं। (171 तथा आगे)

हर बुराई को पश्चिम की झोली में डालना अपनी निजी कमज़ोरियों की अनदेखी करना है तथा आत्मसुधार के अवसर से हाथ धोना है।

गांधीजी को **आस्था पुरुष** कहने में भी एक संकट है। निश्चय ही वैसी प्रसादजी की मन्शा नहीं है। अपनी आत्म-कथा को गांधीजी ने **सत्य के साथ मेरे प्रयोग** कहा। इस शीर्षक में जितना महत्त्वपूर्ण शब्द 'सत्य' है उतना ही महत्त्वपूर्ण शब्द 'प्रयोग' है और यह उनकी वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है, जैसा प्रसादजी ने भी माना है। वे लिखते हैं, "धर्म को भी सत्य के आग्रही के रूप में, प्रयोगों के आधार पर, प्रस्तुत कर गांधीजी ने मानव-मानव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के बीच की खाई को पाटने के साथ विज्ञान और धर्म के बीच की खाई को पाटने का मार्ग सुझाया।"(68) ध्यान देने की बात यह है कि गांधीजी भी धर्म के नाम पर किसी भी ऐसी चीज़ को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे जो मानव-विरोधी हो, नीति-शून्य हो तथा बुद्धि पर खरी नहीं उतरती हो। इस बात को लेकर उन्होंने धर्मग्रन्थों को, चाहे उनका सम्बन्ध किसी भी धर्म से हो, अक्षरशः नहीं स्वीकारा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी सत्य एवं अन्तरात्मा पर आस्था बुद्धि अथवा तर्कबुद्धि के विरुद्ध नहीं थी यद्यपि वह उन पर आश्रित नहीं थी। गांधीजी बुद्धि का महत्त्व स्वीकार करते थे, यह बताते हुए प्रसाद जी कहते हैं कि वे 'अन्तःकरण की आवाज़' को 'तर्कबुद्धि का निर्देश' भी कहते थे। (140) गांधीजी के लिए आस्था-पुरुष की संज्ञा तब तक सार्थक रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकती जब तक उनकी आस्था के विषय अथवा उसके अधिष्ठान का कथन नहीं किया जाय। प्रसादजी स्वयं आस्था के अनेक विषयों का उल्लेख करते हैं, यथा भारतीय परम्परा, इहलोक, मनुष्य का देवत्व इत्यादि। (2,3) बुद्धि में आस्था रखने वाला व्यक्ति उस व्यक्ति से भिन्न होगा जो मात्र श्रुति में आस्था रखता है। गांधीजी का व्यक्तित्व उस व्यक्ति की तुलना में जो केवल श्रुति में आस्था रखता है उस व्यक्ति के अधिक निकट पड़ता है जिसकी आस्था बुद्धि में हो।

जैसा आरम्भ में ही कहा गया है, पुस्तक की मूल अवधारणा है : 'लोकशक्तिरेव जयते'। लोकमत, लोकशक्ति तथा लोकतन्त्र परस्पर गहरे रूप में सम्बद्ध हैं, ऐसा प्रसाद जी मानते हैं। उनका मत है कि यदि लोक-मत लोक-शक्ति से मण्डित हो तो वह सही लोकतन्त्र की स्थापना में सहायक हो सकता है। जिन असंगतियों से आज हम पीड़ित हैं उनका समाधान मिल सकता है। उनका मानना है कि, यह जो सब मानते हैं कि स्वतन्त्रता लोकमत की जय है वह सही है। यदि वह लोकमत लोकशक्ति के रूप में गांधीजी के पीछे होता तो विभाजन नहीं होता। (151) लोकमत के विषय में वे कुछ ऐसे कथन करते हैं जिनसे उनके विचार को सुस्पष्ट रूप में जानने में बाधा आती है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि लोकमत किसी की मुट्ठी में नहीं होता। (170) दूसरी ओर वे लोकमत के निर्माण अथवा उसकी पुनः रचना की बात भी करते हैं। उनका यह कहना ठीक ही है कि गांधीजी ने स्वतन्त्रता के लिए न केवल भारत में अपितु सारी दुनिया में लोक-मत को विकसित किया। (158) लोकमत को विकसित करने की गांधीजी की पद्धति सदाचार के विकास पर आधारित थी। (168)

साथ ही प्रसादजी लोकमत के विभिन्न स्तरों (त्रिगुणात्मक रूप में) तथा उसमें फाँक पड़ने का उल्लेख भी करते हैं। (152) लोक-सेवा-संघ के लिए जो आवश्यकता लोकमत को सात्त्विक रूप में विकसित करने की थी, गांधीजी को उसको पूरा करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। (164)

लोकमत का निर्माण हो सकता है, लोकमत का विकास किया जा सकता है, उसे दिशा दी जा सकती है, उसका परिष्कार संभव है—इस संदर्भ में प्रसादजी साहित्यकार की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका विचार है कि साहित्य ऐसा लोक-मानस तैयार कर सकता है जो भौतिकतावादी संभ्यता को व्यावहारिक वेदान्त के अनुरूप जीवन-कला दे सकता है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बिखरती सामाजिक तथा पारिवारिक व्यवस्था को संभाल सकता है।(160) वाल्मीकि तथा व्यास की सभ्यता-निर्माण में जो भूमिका रही है उस पर बल देते हुए वे राम तथा कृष्ण के चरित के अनुरूप गांधी-चरित को प्रस्तुत करने की क्षमता रखने वाले कवि का आह्वान करते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि ऐसा काव्य पुनः उस मानस को तैयार कर सकता है जिसकी आज कमी महसूस की जा रही है। (प्रसाद जी का ध्यान इस खतरे की ओर नहीं गया कि गांधीजी को एक अवतारी पुरुष के रूप में ऊपर उठा देने पर उनका अनुसरण कवेल प्रवचन का विषय होकर रह जायगा।)

लोकमत को अनुकूल रूप में विकसित करने की बात इस बात से मेल नहीं खाती कि वह किसी की मुट्ठी में नहीं होता। यदि उसका स्वरूप एक स्वायत्त शक्ति का रूप है तो उससे अनुकूलता बनाने की बात ही हो सकती है, उसे अनुकूल बनाने की नहीं। शायद इसी स्वायत्तता का सम्बन्ध लोकापवाद से है। प्रसादजी का विचार है कि साहित्यकार अपने आदर्श नायक को लोकापवाद से मुक्ति दिलाने में सफल हो सकता है।

स्वयं गांधीजी के सम्बन्ध में उनके अद्वैत बोध (प्राणिमात्र की एकता में विश्वास) को लेकर वे गांधीजी की एक महती भूल का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार गांधीजी की इस भूल ने द्वैत का रास्ता खोला, और यह उनकी दृष्टि से लोकमत में फाँक पड़ना था। यह भूल गांधीजी का यह कहना थी कि "पट्टाभि सीतारमैया की हार उनकी हार है।" प्रसादजी के लिए यह गांधीजी के चरित में एक लोकापवाद के सदृश घटना थी, जिसे उनका वांछित कवि निराकृत कर सकेगा।

प्रसादजी आशावादी हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि 21वीं शती भारत की होगी तथा अब वह समय आ गया है जब उस लोकशक्ति का विकास किया जाना चाहिए जो वांछित लोकतन्त्र के निर्माण में सहायक होगी—एक ऐसे लोकतन्त्र के निर्माण में जिसमें कोई उपेक्षित नहीं होगा।(169) इसके लिए उपयुक्त साहित्य, कला तथा दर्शन की एक ओर, तथा अनिवार्य शिक्षा की दूसरी ओर अपेक्षा है। वे यह भी कहते हैं कि जब तक सत्ता के प्रति अनुरक्ति सत्य एवं सेवा में निष्ठा में नहीं बदलती तब तक कोई भी परिवर्तन संभव नहीं है।(169) एक स्थान पर वे लिखते हैं कि "शास्त्रों और महापुरुषों के बताये मार्गों के अतिरिक्त एक अज्ञात तत्त्व है—इसे जिस किसी नाम से सम्बोधित करें—जिसके योग के बिना चरम स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती। जिस पर उसकी कृपा होती है वही उसे जान पाता है।"(105) उनके ये विचार हमें सांपसीढ़ी के पहले घर में पहुँचा देते हैं। हम यही तो जानना चाह रहे थे कि ऐसा क्यों हो रहा है कि मनुष्य सत्य, सेवा तथा प्रेम के स्थान पर सत्ता और अर्थ को अपना परम उद्देश्य मानने लगा है और उसके लिए कुछ भी कर गुज़रने को तत्पर रहता है?

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
10/558 कावेरी पथ, मानसरोवर,
जयपुर 302020

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रोफेसर नंदकिशोर देवराज के प्रति श्रद्धांजलि-निवेदन

प्रतिष्ठित साहित्यकार और दार्शनिक प्रोफेसर नंदकिशोर देवराज का 11 जनवरी, 1999 को देहान्त हो गया। उनका जन्म 3 जून, 1917 को उ. प्र. के रामपुर नगर में हुआ था। वे जीवन भर सरस्वती की साधना में अथक रूप से निरत रहे और कविता, उपन्यास और साहित्योचना से लेकर तत्त्वमीमांसा तथा संस्कृति-दर्शन तक विषयों में लगभग 25 पुस्तकों का प्रणयन किया। अंतिम दिनों में भी उन्होंने एक पुस्तक कालिदास पर लिखी और एक उपन्यास तथा दार्शनिक ग्रंथ वे अधूरे छोड़ कर गए।

ऐसे बहुमुखी प्रतिभावान् और अनवरत साधनारत व्यक्ति के प्रति हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्ध का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection